

**TEXT CROSS
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178867

UNIVERSAL
LIBRARY

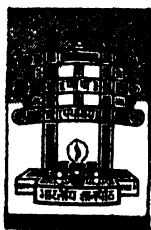
OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1 Accession No. H 3501
M49 k

Author मेहरोत्ता, शान्ति

Title रेवुला आकाश : मेरे पंख १९६२

This book should be returned on or before the date
last marked below.



नये साहित्य स्रष्टा : चार

सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन

खुला आकाश : मेरे पंख

[कहानियाँ, लघुकथाएँ, व्यंग्य, कविताएँ]

शान्ति मेहरोत्रा



भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थाङ्क-१५०

ग्रन्थमाला सम्पादक-नियामक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय वाराणसी

प्रथम संस्करण १९६२

मूल्य साढ़े चार रुपये



शान्ति मेहरोत्राका संग्रह

नये साहित्य-स्रष्टा ग्रन्थमालाके पहले ग्रन्थकी भूमिकासे एक उद्धरण, जो ग्रन्थमालाके अन्य ग्रन्थोंमें भी दिया गया है, यहाँ भी आवृत्तिकी अपेक्षा रखता है, क्योंकि वह पूरी ग्रन्थमालाकी मूल भावनाको व्यक्त करता है ।

‘नये साहित्य-स्रष्टा’, ग्रन्थमालामे क्रमशः ऐसे साहित्यकारोंकी रचना पाठकके सामने उपस्थित करना अभीष्ट है जिन्होंने न केवल नया या रोचक या अच्छा कुछ लिखा है, वरन् जिनका साहित्यिक कृतित्व उस संघर्षको भी प्रतिबिम्बित करता है जो इस कालके साहित्यकारको अपनी निष्ठाकी रक्षाके लिए और अपने कला-मूल्योंकी प्रतिष्ठाके लिए करना पड़ता रहा है ।

“यह इस संघर्षकी बहुमुखता और जटिलताका एक चिह्न है कि समवर्ती कृतिकार प्रायः एकसे अधिक माध्यमोंमें रचना करते हैं । ऐसे लेखक कम हैं जो केवल कहानीकार या केवल कवि या उपन्यासकार या नाटककार या आलोचक हों । यह निरा ‘हर फ़न् मौला’ होनेका शौक नहीं है, न अनुशासनहीनता अथवा अराजकताका चिह्न, न साधनाकी कमी अथवा गुरु-शिष्य पद्धतिकी उपेक्षा । और यह भी एक अत्यन्त एकांगी सत्य होगा अगर कहा जाये कि आर्थिक कारणोंसे कृतिकारको सभी तरहकी चीजें लिखनी पड़ती हैं । यदि कवि लोग कहानियाँ और रेडियो-रूपक लिखने लगते और समीक्षक नाट्यकार (पाठ्य-क्रमोपयोगी) हो जाते और बात वहीं तक रह जाती, तब तो आर्थिक प्रभावकी प्रधानता माननी पड़ती । पर ऐसे भी उदाहरण अनेक मिलेंगे जहाँ सफल कहानीकारोंने कविता लिखना आरम्भ किया है और आग्रहपूर्वक कविता लिखते ही चले गये हैं—यद्यपि

कविताओसे कुछ आय नहीं होती रही है जब कि कहानियोंकी माँग बराबर बनी रही है और उनके लिए पेशगी पारिश्रमिक पा लेना भी असम्भव नहीं रहा है ।

“यह बहुमुखता इस ग्रन्थमालामे प्रतिबिम्बित हो, यह उसके उद्देश्यका स्वाभाविक परिणाम है । बिना उसके वह कैसे समकालीन संघर्षों और प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व कर सकती ? पर वह इसलिए भी ग्राह्य और अभि-नन्दनीय है कि इस प्रकार वह प्रत्येक ग्रन्थको एक प्रीतिकर विविधता दे देती है । एक पुस्तक एक साथ ही एक साहित्यकारका पूरा प्रतिनिधित्व भी करे, और नाना रस-व्यञ्जनोंसे पाठककी रसनाको लुभाये और तृप्त भी करे, यह सम्भावना इस ग्रन्थमालाको न केवल अपने ढंगका एकमात्र प्रयास बना देती है वरन् आजकी स्थितिमे एक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् प्रयोग भी । पाठक वर्ग, आशा है, इसे इसी रूपमे ग्रहण करेगा ।”

प्रस्तुत ग्रन्थ नये साहित्य-स्रष्टा ग्रन्थमालाका चौथा ग्रन्थ है । इसमे और पहले तीन ग्रन्थोमे जो अन्तर है वह इसे उपर्युल्लिखित उद्देश्य-पत्रसे बाहर नहीं ले जाता, फिर भी उल्लेखनीय है । बल्कि इसीलिए कदाचित् अधिक उल्लेखनीय है कि वह उसी उद्देश्यकी ओर एक दूसरी दिशासे बढ़ रहा है ।

यह श्रीमती शान्ति मेहरोत्राका पहला संग्रह नहीं है, दूसरा भी नहीं है । उनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और सम्मान भी पा चुके हैं इसलिए प्रस्तुत संग्रहमे जो अलग-अलग साहित्य-विधाएँ संकलित की गयी हैं, उनमें-से कमसे-कम एक —काव्य—की रचयित्रीके रूपमें लेखिका हिन्दी पाठककी सुपरिचित रही है, और ठीक उस अर्थमें ‘नयी साहित्य-स्रष्टा’ नहीं है जिस अर्थमे कि दूसरे रहे । लेकिन प्रस्तुत संग्रहके केवल काव्यांश को पढ़कर भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि कवयित्री जिस रूपमें हिन्दी पाठक-जगत्की परिचिता रही है वह बड़ी तेजीसे बदल रहा है; और उनके काव्यकी नयी दिशा पाठकके लिए भी और स्वयं उनके लिए भी इतनी नयी

शान्ति मेहरोत्राका संग्रह

है कि उन्हें इस ग्रन्थमालाके लिए मनोनीत साहित्य-स्रष्टाओंकी पंक्तिमें ला बिठाती है ।

यह परिवर्तन क्यों और कैसे हुआ या हो रहा है, इसकी पड़ताल निःसन्देह बड़ी रोचक होगी; लेकिन उसमें तत्काल पड़ना आवश्यक नहीं है क्योंकि उसे लेखिकाके समूचे कृतित्वसे अलग करके देखना विशेष उपयोगी न होगा । अभी उल्लेखनीय बात यह है कि लेखिका आरम्भसे ही विभिन्न विधाओंके, और काव्यके, अन्तर्गत विभिन्न प्रकारके प्रयोगोंकी ओर प्रवृत्त नहीं हुई, बल्कि काव्य-रचनाको एक पद्धतिमें—जिसे रूढ़ पद्धति कहना असंगत न होगा—प्रतिष्ठा पा लेनेके बाद ही दूसरी ओर उन्मुख हुई । प्रतिकूल आलोचक कह सकता है कि यह साहसकी कमीका या कलाकारके कौतूहल और जिज्ञासा-भावकी दुर्बलताका द्योतक है । यह नितान्त मिथ्या भी नहीं होगा, अगर इसे अपने-आपमें लेखिकाकी रचनाओंका मूल्यांकन न समझ लिया जावे । कला-कौतूहल अथवा प्रयोगशीलता स्रष्टाका एक गुण है, लेकिन अपने-आपमें सृष्टिका प्रमाण नहीं है । फिर भीतरसे वैसी प्रवृत्ति हुए बिना, केवल 'प्रयोगके लिए प्रयोग' न करना, कृतिकारकी निष्ठाका भी लक्षण हो सकता है ।

मैं मानता हूँ कि शान्तिजीकी कवितामें इस प्रवृत्तिके विलम्बसे अवतरित होनेका सही महत्त्व हम तभी पहचान सकते हैं जब उसे उनकी गद्य-रचनाओंके सन्दर्भमें देखें । सम-सामयिक परिस्थितिमें नये साहित्यकार लगभग सभी एक-साथ कई विधाओंमें रचना करते हुए अवतरित हुए हैं । यह दूसरी बात है कि किसीकी कविताएँ कुछ पहले प्रकाशमें आ गयी हैं और किसीकी कहानियाँ । किन्तु शान्तिजीने गद्यके क्षेत्रमें पदार्पण कविरूपमें मान्य हो जानेके काफ़ी देर बाद ही किया । इसका अर्थ यही हो सकता है कि उन्हें एक नयी विधाकी ज़रूरत महसूस हुई; वैसा चाहे इसलिए भी हुआ हो कि परम्परागत पद्यमें उन्हें जो कुछ कहना था वह कहा जा चुका हो । परम्परागत पद्धतिका कवि कवितामें नये ढंगकी बात कहने लगे, तो उसका

कारण फ्रैशन या जमानेकी हवा भी हो सकती है—हमारी पीढ़ीमें इसके भी उदाहरणोंकी कमी नहीं है। किन्तु शान्तिजीने गद्यमें जिन विधाओंको अपनाया वे सूचित करती हैं कि लेखिका संवेदनाके एक दूसरे आयाममें प्रवेश कर रही है। वस्तुकी दृष्टिसे अध्ययन करनेपर भी इसी बातकी पुष्टि होती है। पहलेकी कविताओंके सहज स्वीकारी भावका स्थान एक नयी और निर्मम सामाजिक बुद्धिने ले लिया है। यह सामाजिक बुद्धि मतवाद-प्रेरित नहीं है, लेकिन समाजको तीखी आलोचना उसमें निहित है। उसमें विचार नहीं, अनुभूतियाँ बोलती हैं; नया संस्कार आरोपित नहीं है बल्कि उद्भूत है।

समाज और परिवेशके प्रति यह बदला हुआ भाव ही कवितामें भी प्रतिबिम्बित हुआ है, और इसीने शान्तिजीके काव्यका रूप बदल दिया है। उन्हें जो कहना है वह अब नयी भाषा और नया मुहावरा, नयी लय और गति माँगने लगा है, क्योंकि उन्हें जो अब कहना है वही दूसरा है। जिस तरह उसे कहनेके लिए एक ओर वह पद्यकी अपेक्षा गद्यको अधिक उपयोगी पा रही हैं, उसी तरह दूसरी ओर कवितामें भी परम्परागत 'छन्द-बन्ध' उन्हें अग्राह्य हो गये हैं। यही सही पूर्वापरत्व है और यही साहित्य-कारके विकासको हमारी सहानुभूतिका पात्र बनाता है, इससे विपरीत होता तो यह परिवर्तन हमारे लिए महत्त्वहीन हो जाता—बल्कि एक प्रतिकूलता जगाता क्योंकि वह न मौलिकताका संकेत होता न निष्ठाका ही।

जो धावक एक मंज़िलपर पहुँचकर फिर दौड़नेवालोंकी पंक्तिमें आ खड़ा होता है, जरूरी नहीं है कि और सबसे अच्छा ही धावक हो, या कि जिस नयी मंज़िलपर पहुँचे वह अधिक ऊँची ही हो। फिर भी उसके दौड़नेके उत्साहका क्रायल तो होना ही होगा; यह मानना ही होगा कि दौड़के साहस-कर्मके प्रति उसमें एक खुलापन है, और कदाचित् यह भी कि जो मंज़िल वह तय कर चुका है वहीं उसे विश्राम नहीं है—उतनी ही दौड़पर सन्तोष कर लेना वह नहीं चाहता है। अपने कृतित्वके प्रति ऐसा असन्तोष

शान्तिजीकी रचनाओंमें प्रकट है। और मैं मानता हूँ कि यह स्वस्थ है और स्वस्थ विकासका सूचक है। जो है उसके प्रति उनका यह असन्तोष मूलतः सामाजिक परिवेशके प्रति है। यह अपने-आपमें भी विकासका लक्षण है। लेकिन शान्तिजीकी संकलित रचनाओंमें प्रगतिके और भी लक्षण है। यह विकास-शीलता ही उन्हें फिरसे एक 'नया साहित्य-स्रष्टा' बना देती है और उनके इस ग्रन्थमालामें सम्मिलित किये जानेको सार्थकता देती है। यह नयापन कच्चेपनका पर्याय नहीं है बल्कि पुष्ट भविष्यकी प्रतिज्ञा है।

पिछली रचनाओंकी तुलनामें लेखिकाकी नयी प्रवृत्तिकी एक उल्लेखनीय विशेषता है व्यंग्य-हास्य। यों तो तीखा सामाजिक व्यंग्य हिन्दी लेखिकाओंमें कम ही पाया जाता रहा है—यह एक क्षेत्र है जिसमें 'लेखक' और 'स्त्री-लेखक'का भेद मैं भी मान लेनेको तैयार हूँ जो कि कृतिकार-सम्प्रदायमें इस भेदको कोई महत्त्व देना नहीं चाहता—पर जो दो-एक अपवाद हुए हैं (हुई है!) उनके व्यंग्यमें तीखापन या कटुता इतनी अधिक आ जाती है कि उसे हास्य कहते थोड़ी शिक्षक होती है। शान्तिजी का हास्य चुटीला हो जाता है पर विष-बुझा नहीं है। कभी-कभी वह चेष्टित भी हो जाता है—प्रसारणके लिए नियत-कालिक कार्यक्रमोंका दबाव ही शायद इसके लिए उत्तरदायी है, लेकिन उस दबावके कुप्रभाव तो अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारोंकी रचनाओंसे भी झलकते हैं। सन्तोषकी बात है कि शान्तिजीकी रचनाओंमें ऐसी बाध्यता अधिक नहीं दीखती। यदि कहीं दीखती भी तो वैसी रचनाएँ इस संग्रहमें भरसक नहीं ली गयी हैं, सम्पादकके इस रहस्यका उद्घाटन करनेमें मुझे संकोच नहीं है!

संग्रह पाठकके सामने है। सम्पादकका काम पूरा हो चुका है; लेखकका तो उससे पहले ही पूरा हो चुका था। उससे आगे पाठककी अनुसन्धान-यात्रा सफल, रुचिकर और स्फूर्तिप्रद हो, यही कामना की जा सकती है।

—सखिदानन्द वात्स्यायन

अनुक्रम



साँझ ढले (कहानियाँ)

१. मनकी घाटी : दर्दके बादल	१७
२. अपने-अपने दायरे	२२
३. साँझ ढले	३१
४. तल और सतह	३९
५. तर्कसे परे	५३
६. नीम हकीम	६४
७. सम्पदा लुट गयी	७३
८. छोटे हाथ : छोटी बात	८६
९. सूने दिन : सूनी रातें	९२
१०. तब वह रो पड़ी	१०१
११. बेटेकी वापसी	१०८
१२. चट्टानके नीचे	१२७
१३. नीलाम	१३१
१४. चार घर एक नाग	१३८

अरासकेषु कवित्त (व्यंग्य)

१. बहुजन हिताय	१४७
२. कहो तो मुश्किल न कहो तो मुश्किल	१५२
३. दहीकी मटकी सास-बहूके हाथ	१५७
४. वायु-सेवन	१६०
५. यदि आप कवि हैं तो	१६६

६. अरसिकेषु कवित्त निवेदनम्	१७०
७. अबीर, गुलाल और टेलिफोन	१७५
८. बॉक्स-ऑफिस-हिट	१७९

गिरवी रखी हुई आत्मा (लघु कथाएँ)

१. मौलीके तार	१८५
२. वर्षोंका गड़	१८६
३. सती	१८९
४. अमिव्यक्ति और अनुभव	१९१
५. गिरवी रखी हुई आत्मा	१९२

टूटा दर्पण, गहरी छाया (एकालाप)

१. प्रतीक्षा	१९५
२. सिन्दूरकी रेखा	१९८
३. टूटा दर्पण : गहरी छाया	२०२
४. ज़िन्दगी : एक उलझी डोर	२०७
५. दिवा-स्वप्न	२१०

खुला आकाश : मेरे पंख (गीत)

१. गीत लिखना पुण्य भी है पाप भी है	२१७
२. मौनतम आराधना मेरी न कोई जान पाया	२१८
३. मिल गया बस एक तारा	२२०
४. जो एक बार चल पड़ा उसे मत रोको	२२१
५. अन्धकार का फिर क्या होगा	२२२
६. हार-जीत की जंजीरों को तोड़ो	२२४
७. ऊषा की जयमाल सुनहरी	२२५
८. सुग्घ सावन की दुपहरी	२२६
९. आज हुई सन्ध्या दीवानी	२२७

१०.	रह गयी फिर भी अधूरी ही कहानी	२२८
११.	प्यार न लोगे प्यार न दोगे	२२९
१२.	अब ग्यथा की बात मत कह	२३०
१३.	हार-जीत तो नश्वर केवल कर्म अमर है	२३१
१४.	तुम्हारे अन्तस् की पीड़ा	२३२
१५.	हार-जीत की प्रथा बहुत हो चुकी पुरानी	२३३
१६.	आधी धूप : आधी छाँह	२३४
१७.	आराध्य न अब साकार बनो	२३५
१८.	बस क्षमा करो वरदान न दो	२३६
१९.	जग को अनुमान मला होगा भी क्यों	२३७
२०.	एक गीत सब गानेवाले	२३९
२१.	जीवन-उपवन के तीन प्रहर	२४०
२२.	सत्य नहीं बतलाया जाता	२४१
२३.	ओ प्रवासी, मैं तुम्हारी राह	२४२
२४.	जीवन सतत प्रवाह निरन्तर	२४३

काराजके फूल (कविताएँ)

१.	जीवन में असफलता के क्षण	२४७
२.	मेरे इस जीवन पर	२५०
३.	लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है	२५२
४.	साथ कितने दिन रहोगे मौन बन्धन और ?	२५५
५.	बन्धन तुम्हें मुक्ति का दान	२५६
६.	चिर मुक्ति न दे पायी जिसको	२५७
७.	गीत दो तो प्रीति मत दो	२६०
८.	सम्भव है कितना परिवर्तन	२६१
९.	कलिके, तुम मत म्लान हो !	२६२

१०.	जिया नहीं मैंने	२६२
११.	कितने सपने ?	२६५
१२.	हर पंक्ति में	२६६
१३.	कोई माप नहीं	२६७
१४.	नीम की सूखी पत्तियाँ और धूल-भरे पाँव ;	२६८
१५.	सावन की एक सुबह	२६९
१६.	समय : एक आलसी मज़दूर	२७०
१७.	विषाक्त परम्परा	२७१
१८.	कागज़ के फूल	२७२
१९.	मन पारस है	२७४
२०.	एक मनःस्थिति	२७५
२१.	समन्वय की बात	२७६

साँभू ठलै
[कहानियाँ]

मनकी घाटी : दर्दके बादल

उस दिन आँख खुलनेपर श्यामा मेजपर रखी घड़ी देखकर चौक गयी। सात बज चुके थे ! उसका अंग-अंग टूट रहा था और सिर भारी था लेकिन लेटे रहनेसे काम कैसे चलता ! वह खिन्न मनसे उठी और नहाने-धोनेके बाद चूल्हा जलाकर चायका पानी चढ़ा दिया ।

सासने ठाकुरद्वारेमें बैठे-बैठे माथेपर बल डालेकर पूछा, “अब सोकर उठी हो ?”

श्यामाकी इच्छा हुई कि वह उन्हें बता दे कि उसकी तबीयत ठीक नहीं है। किन्तु संकोचवश वह केवल यह कहकर, “जी, आज बहुत देर हो गयी; न जाने क्यों आँख ही नहीं खुली”, अलमारीमे-से चाय और चीनीके डब्बे निकालने लगी ।

पानी खोलने भी न पाया था कि जगजीत, रणजीत और सुधाने माँको घेरते हुए कहा, “अम्मा, जल्दीसे चाय दे दो, बहुत भूख लगी है।”

“चाय कहाँसे दे दूँ; अभी तो बहूने पानी चढ़ाया है। पानी खोलेगा तब दूध उबलेगा और उसके बाद कहीं नाश्ता बनेगा ! तबतक जाकर पढ़ो।”

“तुमने तो पढ़नेको कह दिया लेकिन इतनी भूख लगी है, पढ़नेमे क्या मन लगेगा ?”

“नहीं मन लगेगा तो मैं क्या कहूँ ! कोई काममे हाथ भी न लगाना चाहे तो अम्मा अकेली क्या-क्या कर ले ?” फिर सुधाकी ओर घूमकर बोलीं, “जाओ बनाओ जाकर; खड़ी-खड़ी मुँह क्या ताक रही हो ? तुम अगर चाहो कि रोज़ पका-पकाया मिल जाये और तुम आकर खा लो, सो तो हो नहीं सकता।”

सुधाने मुँह बनाकर कटोरा उठाया और जाकर बेसन घोलने लगी । उसमे आलूके पतले-पतले कतले काटकर मिलाते हुए उसने चूल्हेके पास बैठी भावजसे लट्ठमार आवाज़मे कहा,

“हटिए !”

“क्यों ? लाओ न, मैं ही बना दूँ । तुम सबको भूख लगी है—बैठकर खा लो !”

“नही, हम बना लेंगे ।”

“अरे ऐसा भी क्या ! बड़ी रानी हो—जाकर खा लो !”

“बना लेंगे तब खा लेंगे । आप हटिए !”

श्यामा इस निर्मम हठ और अकारण अपमानसे आहत होकर वहाँसे हट गयी । सुधाने चाय छानकर केतली मेजपर रख दी और पकौड़ियाँ बनाने लगी । श्यामाकी इच्छा हुई कि वह अपने कमरेमें जाकर पड़ी रहे । वह जानती थी कि देरसे उठनेकी उसकी अक्षम्य भूलपर रोष व्यक्त करनेके रूपमें अब दिन-भर उसे कोई काम नहीं करने दिया जायेगा, कोई उससे बोलेगा भी नहीं । किन्तु वहाँसे हटकर जाना असम्भव था, क्योंकि वहाँसे हटते ही कोई-न-कोई उसे पुकारकर कहता, “अम्माँ कह रही है आकर नाश्ता तो कर जाइए !” उस ‘तो’के तीखेपनसे बचनेके लिए वह वहीं रुकी रही । उसने उलटे-सीधे पड़े बर्तनोंको ढंगसे सजा दिया, शीशीमे बारीक नमक पीसकर रख दिया और खाली घड़ोंमें पानी भर दिया । इसके बाद कोई काम न पाकर वह अपराधिनी-सी एक ओर खड़ी हो गयी ।

“जाओ जगजीत, ज़रा बड़े भइया और रणजीतको भी बुला लाओ, जलपान कर लें,” सुधाने भाईसे कहा ।

श्यामाने झुककर नाश्तेकी प्लेट मेजपर रख देनी चाही किन्तु इससे पूर्व ही सुधाने प्लेट उठा ली और जाकर मेजपर रख दी । भाइयोंके चाय पीकर जानेके बाद उसने माँको पुकारकर कहा, “अम्माँ, चाय ठण्डी हो रही

है, पहले आकर पी लो तब कुछ काम करना !”

चौकेमे कुछ काम कर पानेकी गुंजाइश न देखकर श्यामाने सासके पास जाकर धीरेसे पूछा, “आज तरकारी क्या बनेगी ?”

लेकिन अम्माँका ध्यान पूजामे लगा था। वह एक हाथसे घण्टी बजाती हुई, दूसरेसे ठाकुरजीके सिंहासनके चारों ओर आरती घुमा रही थीं। वैसे भी जिस दिन वे नाराज रहती उस दिन उनके ठाकुरजी धीरे-धीरे और देर तक नहाते रहते, तथा रामायणका पाठ भी काफ़ी लम्बा हो जाता। बहूके तीन-चार बार पूछनेपर उन्होंने उदासीन भावसे कहा, “जाकर लडकोसे पूछ लो, मैं क्या बताऊँ।”

श्यामाने जाकर देवरोसे पूछा, “तरकारी क्या बनायी जाये ?”

जगदीशने हँसकर कहा, “कुछ भी बने, भाभी ! मगर सबेरेकी चायकी तरह न बने, नहीं तो इण्टरवल तक ही स्कूल पहुँच पायेंगे !”

“वाह भाई ! भाभी सबेरेके लिए पूछ रही हैं या शामके लिए—यह उन्होंने कहाँ बताया है !”

यह निर्मल हास्य भी उस मनोदशामें श्यामाको जैसे चुभा जा रहा था। अनिच्छापूर्वक मुसकराकर वह ठाकुरद्वारेमें लौट आयी।

“उन लोगोंने कहा है कि जो कुछ बन जायेगा वे खा लेंगे।”

“तो फिर बड़से पूछ लो, सब लोग मेरे ही ऊपर टाल देते हैं।”

श्यामाने खिन्न मनसे पतिके पढ़ने-लिखनेके कमरेमे जाकर पूछा, “सुनिए, आप कौन-सी तरकारी खाना पसन्द करेंगे ?”

अजित एक ज़रूरी केस तैयार कर रहा था। उसने झुंझलाकर कहा, “क्या यह भी मुझे ही तय करना होगा ? इतनी-सी बात भी तुम लोग नहीं सोच पातीं ?”

फिर पत्नीके मुरझाये-से चेहरेको देखकर उसने अपनी खीजपर लज्जित होते हुए मीठे स्वरमें कहा, “जो कुछ तुम चाहो वही बना लो, मुझे सब अच्छा लगता है। लेकिन हाँ, ज़रा जल्दी बना लेना; आज

कचहरी जल्दी जाना है !”

श्यामा यन्त्रवत् फिर सासके पास लौट आयी—“वे बिगड़ रहे हैं । कहते हैं कि यह उनके तय करनेकी बात नहीं है ।”

“सो तो है ही ! वह कचहरीका काम कर रहा होगा, तुमने नाहक टोक दिया । बेचारा वहाँ जाकर माथा-पच्ची करे या चूल्हा-चौका देखे ?”

श्यामाने कहना चाहा कि भेजा तो आप ही ने था, किन्तु शब्द होठों तक आकर जम गये और एक ठण्डी साँस लेकर उसने अपना प्रश्न दोहरा दिया, “तो फिर क्या बना लूँ ?”

“अरे भई, क्या अकेली मैं ही खाऊँगी ? कोई कुछ बताना ही नहीं चाहता ! यह तो बड़ा अन्धेर है ! जाओ, ननदसे पूछ लो !”

श्यामाका हृदय अपमान और उपेक्षाकी ज्वालासे धधकने लगा । भारी मनसे उसने सुधासे पूछा, “सुधाजी, क्या तरकारी बना लूँ ?”

सुधाने आश्चर्यके साथ भावजकी ओर देखते हुए पूछा, “तरकारी ? मैं क्या बताऊँ, अम्माँसे पूछिए । मेरे लिए तो जो कुछ बन जायेगा वही ठीक है । रोज कौन मेरी पसन्दकी ही चीजें बनती है ?”

श्यामा रसोईमें लौट आयो । नौ बज चुके थे । उसे चिन्ता हुई कि सब लोग भोजनके लिए आते होंगे और अभीतक यही तय नहीं हो पाया कि तरकारी क्या बनेगी । उसने अनमने भावसे तरकारीकी डलिया उठाकर देखा । उसमें केवल आलू भरे थे । जल्दीमें वही काटकर छोके ही थे कि अजितने आकर पूछा,

“खाना तैयार है ?”

“अभी—अभी तरकारी ठीकसे गली नहीं है,” श्यामाने संकोचके साथ कहा ।

“सबरेसे तो तरकारीकी धूम मचाये थी, बनाया अभीतक कुछ भी नहीं ! सब लोग क्या खाकर जायेंगे ?” अब अम्माँको भी चिन्ता हुई ।

“खैर, तरकारी न सही, दाल-चावल या जो कुछ बनाया हो वही दे दो,” अजितने कहा ।

श्यामाको मौन देखकर उसने पटरेपर-से उठते हुए कहा, “अभी कुछ भी नहीं बना है तो फिर रहने दो । मैंने तो पहले ही बता दिया था कि मैं आज जल्दी जाऊँगा ।”

सजल बादलोंके समान दर्दने श्यामाके मनकी घाटीको चारों ओरसे घेर लिया । उपेक्षित व्यक्तित्वके एक-एक कोनेमें, तिरस्कृत आकांक्षाओंकी एक-एक चोटीपर वह धीरे-धीरे फैल गया और बरसते आंसुओंको छिपानेके लिए वह गोली लकड़ियोंको फूँक मार-मारकर जलाने लगी ।

अपने-अपने दायरे

इतवारकी विवेकको विशेष रूपसे प्रतीक्षा रहती थी। वह रोज स्कूल जाते समय माँसे पूछता, “अब इतवार आनेमे कितने दिन बाकी हैं ?”

कल्पना उसका आशय समझती हुई भी हँसकर पूछती, “क्यो ? क्या उस दिन स्कूल नहीं जाना होता इसलिए तुम्हें इतवार बुरा लगता है ?”

बालक शरारतके साथ मुसकराकर उत्तर देता, “नही-नहीं, इतवारको घरमे ज्यादा पढ़ सकते हैं इसलिए अच्छा लगता है !”

और इसी कारण सरस्वतीके अनन्य उपासक विवेक जब उस दिन सोकर उठे तो और दिनोंकी अपेक्षा अधिक प्रसन्न थे। उठते ही ऐलान किया, “माता जी, आज हमारी छुट्टी है !”

कल्पनाने उसकी प्रसन्नतामे योग देते हुए कहा, “अच्छा ! तब फिर आज क्या नाश्ता बनेगा ?”

“आलूके चाँप और.....हलवा, जिसमे ढेर-सी किशमिश पड़ी हो”, विवेकने बहुत सोच-विचारकर निर्णय किया।

“ठीक है, बस आधे घण्टेमें सब तैयार हुआ जाता है; तुम तबतक मंजन करके हाथ-मुँह धो आओ।”

“जी अच्छा !” फिर आगे झुककर धीरेसे बोला, “नाश्तेके बाद आप ‘दूध-बताशा’ सुना दीजिएगा ?”

“हाँ जरूर ! ‘दूध-बताशा’ भी, और नयी कहानियोंकी किताब भी !”

बालकने प्रसन्नतासे उछलते हुए माँके गलेमे बाँहे डालकर बड़े दुलारसे कहा, “बड़ी अच्छी है मेरी माताजी !”

उसकी उछल-कूदसे राकेशकी नींद उचट गयी। उसने खाटपर लेटे-लेटे पूछा, “कहिए, आज बिना जगाये कैसे उठ गये ?”

पिताको जागते हुए देखकर विवेकने उत्साह-भरे स्वरमे कहा, “आज आपकी भी तो छुट्टी है—जल्दी उठिए नहीं तो चाँप ठण्डे हो जायेंगे !”

थोड़ी देर बाद सब लोग जलपान करने बैठे ही थे कि बाहरसे किसीने दरवाजा खटखटाया। राकेशने विवेकसे कहा, “जाओ देखो, बाहर कौन है ?”

उसने खिड़कीसे झाँककर चिल्लाते हुए कहा, “त्रिपाठीजी और शर्माजी हैं !”

त्रिपाठी और शर्मा दोनों राकेशके घनिष्ठ मित्र थे, अतः बिना किसी संकोचके उन्हें भी चौकेमे बुला लिया गया और जलपानके साथ-साथ बातचीतका अनन्त स्रोत चल पड़ा। विवेकने वातावरणको अपने लिए भारी होता देख माँसे कहा, “अब ‘दूध-बताशा’ सुना दीजिए न ?”

“अभी सुनायेंगे, जरा बात खत्म हो जाये। राजे बेटे किसीकी बातके बीचमें कभी नहीं बोलते !” माँने दुलारसे मना करते हुए कहा।

वह कुछ देर चुप बैठा रहा, फिर ऊबकर बोला, “पिताजी, हम ज़रा अरविन्दके घर खेलने चले जायें ?”

“नहीं, सवेरे-सवेरे खेलनेके लिए मत जाना। इम्तहान सरपर आ गया, कुछ पढ़ा-लिखा भी करो !” राकेशने अपनी बातोंका क्रम तोड़कर ज़रा झल्लाकर कहा।

“तो फिर पढ़ा ही दीजिए !”

“अच्छा, अच्छा ! थोड़ी देरमे पढ़ा देगे। तबतक तुम ‘मेकैनो’से पुल या क्रेन बनाकर दिखाओ।”

विवेक अपने ‘मेकैनो’का डब्बा वहीं उठा लाया। उसने दो-चार लोहेके पुरजे जोड़े, किन्तु एक स्थानपर अटककर छोटा-सा लोहेका गोल पहिया दिखाते हुए उसने पूछा, “देखिए पिताजी, यहाँपर यह पहिया लगेगा ?”

राकेश, उसके मित्र और कल्पना अपनी-अपनी नयी रचनाओंकी चर्चा

एक-दूसरेसे कर रहे थे। राकेशने वैसे ही सर हिलाकर कह दिया, “हाँ”, और फिर बातोमे लग गया।

विवेक बड़बड़ाया, “आपने तो बिना देखे ही ‘हाँ’ कह दिया ! ऐसे कहीं पुल बन सकता है ? माता जी, आप हमारे पास बैठकर यह वाला इंजन बनवा दीजिए” उसने एक चित्रपर उँगली रखते हुए माँसे आग्रह किया।

“बेटे, हम जरूर बनवा देते लेकिन अभी तो नाश्ता बना रहे हैं, बादमे बता देंगे ! तबतक तुम कोई तसवीरोंवाली किताब देख लो !” कल्पनाने तवेपर-से चाँप उतारकर पति और उसके मित्रोंके सामने रखते हुए उत्तर दिया।

वह उठकर डब्बा वापस रख आया और हाथमे एक मोटी-सी रंगीन तसवीरोंकी किताब निकालकर ले आया। “यह मामाजीने दी थी न ?” अपनी ओर ध्यान आकर्षित करनेकी चेष्टा करते हुए उसने पूछा।

“हूँ—” कल्पनाका ध्यान बातोंमे था।

“जब राजकुमारीकी अँगूठी खो गयी तब राजाने क्या किया ?— पिताजी, ज़रा पढ़कर सुना दीजिए” विवेकने अनुनय की।

“रुको भी यार ! तुम तो बात ही नहीं करने देते। दूसरी किताब लाकर देखो जिसकी कहानी सुन चुके हो।”

वह कुछ देर उसी किताबको उलटता-पुलटता रहा, फिर बन्द करके नीचे डालता हुआ बोला, “हमारा मन ही नहीं लग रहा है, बताइए क्या करें ? अरविन्दके घर चले जायें ?”

“नहीं, अब मत जाओ—काफ़ी धूप निकल आयी है।” कल्पनाने उसे रोकते हुए कहा।

बातों-ही-बातोंमें दोपहर हो गयी। मित्रोंके जानेके बाद सबने भोजन किया और फिर कुछ ही देर विश्राम करनेके बाद राकेश अपनी कहानी पूरी करनेके लिए ऊपर चला गया, और कल्पना कविता लिखनेमें तल्लीन

हो गयी। भोजनके समय विवेक सोच रहा था : बस अब भोजनके बाद में दिन-भर कहानियाँ सुनूँगा; लेकिन माँके हाथमें कलम देख चौंककर पूछ ही बैठा, “क्या आप भी कुछ लिखने जा रही हैं?”

“हाँ थोड़ा-सा जरूरी काम है, तुम तबतक खेलो। बस अभी लिखकर खत्म किये देती हूँ—”

“अरे !” बच्चेने ऊबकर पूछा, “अकेले क्या खेलें ?”

“कुछ भी खेलो—जो अच्छा लगे”, कल्पनाने खीजकर उत्तर दिया।

“अकेले क्या कोई खेल खेला जा सकता है ?—कैरम, लूडो, एल० टी० पी०—क्या खेलें ?—आप हमारे साथ खेलती नहीं हैं, और कहीं जाने भी नहीं देती।”

“शामको ऐल्फ्रेडपार्क चलेंगे। तुम अरविन्द, अनू, अशोक सबको ले चलना और वहाँ खूब खेलना। अभी थोड़ी देरके लिए सो जाओ।”

चुपचाप लेटे-लेटे विवेकको नींद आ गयी। चार बजेके लगभग जब वह सोकर उठा तो देखा कि उसके पिता एक लिफ्टफ्रेम कागज़ मोड़कर रखते हुए कह रहे थे, “ठीक सात बजे पहुँचना है।”

“हाँ, सात बजे मीटिंग शुरू हो जायेगी,” कल्पनाने उत्तर दिया।

“और ऐल्फ्रेडपार्कका क्या होगा ?” विवेकने मीटिंगमें जानेकी आशकासे आतंकित होकर पूछा।

“वहाँ फिर किसी दिन चलेंगे।” कल्पनाने बात टालते हुए कहा।

बालकका मुँह उतर गया और उसने सहमे हुए स्वरमें पूछा, “तो फिर हम अरविन्दके साथ खेल आयें ?” सबेरे भी आपने नहीं जाने दिया था।”

“अच्छा जाओ, लेकिन पाँच बजेतक जरूर लौट आना।”

पाँच-छह सालके बच्चेको समयका क्या ज्ञान ! उसने भोलेपनसे पूछा, “जब अँधेरा हो जायेगा तब पाँच बजेंगे ?”

“नहीं, तुम अरविन्दकी माताजीसे पूछ लेना। वह बता देंगी। लेकिन

आ जरूर जाना, मुझे बुलाने न आना पड़े !”

“जी नहीं, हम पाँच बजेसे पहले ही आ जायेंगे !” कहता हुआ विवेक भाग गया ।

अरविन्द अपने घरके फाटकपर खड़ा होकर उसकी प्रतीक्षा कर रहा था । दूरसे उसे आते देखकर वह वहीसे चिल्लाया, “मुन्नी चोर है—जल्दी आओ !”

“और कौन-कौन खेल रहा है ?”

“शोभा, अशोक, रामसरन—सभी है ! तुम्हारे लिए सब रुके हुए थे ।”

“तो चलो अब खेल शुरू करें । लेकिन पाँच बजनेपर बता देना, हमें ठीक पाँच बजे घर लौट जाना है !”

“हाँ हाँ, पाँच तो बड़ी देरमें बजता है । जब हमारा दूधवाला आता है तब पाँच बजता है ।”

विवेक और अरविन्द घनिष्ठ मित्र थे । वैसे तो आस-पासके घरोंमें बहुत-से बच्चे थे, अरविन्दके कई छोटे भाई-बहन भी थे; किन्तु जबतक वे दोनों साथ न हों तबतक उनका मन नहीं लगता था । विवेकने अरविन्दके गलेमें हाथ डालकर सीढ़ीपर चढ़ते हुए पूछा, “क्या तुम्हारी माताजी भी मीटिंगमें जाती है ?”

“नहीं तो । वह तो कभी-कभी बाज़ार जाती है, घूमने जाती है और सिनेमा जाती हैं । ज़िद करनेपर हमें भी साथ ले जाती है, और वहाँ बड़ा अच्छा लगता है ।” “ये मीटिंग क्या होती है ?”

“अरे तुम्हें नहीं मालूम ? ढेर-से लोग एक गोला बनाकर बैठ जाते हैं—जैसे हम लोग कोड़ा जमालशाही खेलते समय बैठते हैं न, वैसे ही । फिर वे सब लोग जलपान करते हैं । तबतक तो हमें भी अच्छा लगता है, लेकिन उसके बाद सब मुँह बना-बनाकर बैठ जाते हैं । किसी एकका नाम पुकारा जाता है, और वह पागलोंकी तरह कुछ देर अपने-आप बोलत

रहता है। इसके बाद वे लोग बारी-बारीसे बातें करते हैं। मुझसे कोई नहीं बोलता। अगर मैं दिल बहलानेके लिए माताजीसे बातें करता हूँ तो मुझे डाँटकर कह देती है, 'तुम्हें बिलकुल तमोज़ नहीं है, चुपचाप बैठो !' पिताजीसे कुछ कहता हूँ तो वे ऐसे देखने लगते हैं जैसे फिर कुछ पूछनेपर बाहर ही निकाल देंगे।"

"अरे तो सभी लोग तो बच्चोंको साथ लाते होंगे, तुम उनके साथ अलग क्यों नहीं खेलते ?—मुझे साथ ले चलना अगली बार; चलकर देखूंगा कैसे नहीं खेलने देते !"

"अरे बाप रे !....अकेले तो मेरी मुसीबत आ जाती है, तुम्हें भी ले चलूँ तो दोनों पिटकर ही लौटें !....वहाँ मेरे अलावा कोई दूसरा बच्चा नहीं होता। हाँ, कभी-कभी लोग समझदारीसे काम लेते हैं और बच्चो-वाले घरमे जमा होते हैं। मगर वहाँ भी सब अपने-आप बिना बात 'ही ही' करके हँसेंगे, या हाथ पटक-पटककर चिल्लायेंगे; मगर हम लोगोंकी भागने-दौड़नेतक की आवाज़से चिढ़ जाते हैं।"

अरविन्दने संवेदनासे सिर हिलाते हुए पुरखोंकी तरह कहा, "क्या कहें, तुम्हारी किस्मत ही खराब है जो तुम्हें ऐसी जगह जाना पड़ता है ! खैर चलो, आज स्कूलसे एक बहुत बढ़िया खेल सीखकर आये हैं जिसमें एक मोटा लड़का हाथी बनता है और एक छोटे बच्चेको चूहा बनाते हैं। फिर सब लोग चारों तरफ़ खड़े होकर ताली बजा-बजाकर गाते हैं, 'हाथी भाग, चूहा आया !' आओ चलो, शुरू करें।"

इसके बाद जो खेलोंका क्रम शुरू हुआ तो विवेक घर लौटनेकी बात ही भूल गया। सहसा राकेशकी आवाज़ सुनकर उसे फिर मीटिंगकी बात याद आ गयी और उसने अँधेरा हुआ देखकर धीरेसे दोस्तके कानमे फुसफुसाकर पूछा, "क्या पाँच बज गया ?"

अरविन्दने अनिश्चयके स्वरमे उत्तर दिया, "पता नहीं, दूध वालेको तो आते नहीं देखा।"

विवेकने दुखी होकर फिर कहा, “क्या बतायें, अच्छे-भले ‘मछली-मछली कितना पानी’ खेल रहे थे—अब जाना ही पड़ेगा !”

तभी राकेशने खीजकर पुकारा, “कहाँ जाकर बैठ गये हो भई, देर हो रही है ! चलो, नहीं तुम्हे यहीं छोड़कर हम लोग चले जायेंगे ।”

अरविन्दने मुसकराकर पूछा, “क्या सचमुच छोड़ जायेंगे ? तब तो बड़ा अच्छा रहेगा !”

“अरे नहीं,” विवेकने जूता पहनते हुए धीरेसे कहा, “बहुत देरसे लौटेंगे इसलिए साथ न जानेसे डाँट पड़ेगी ।”

अशोक, शोभा, रामसरन, मुन्नी, आशा, अनू — सब उसको घेरकर बाहर तक छोड़ने आये । अरविन्दने उसका हाथ पकड़कर उदास स्वरमें कहा, “कल जल्दी आ जाना.....”

उसने खिन्न होकर सिर हिलाया ।

कल्पनाने घड़ी देखते हुए पूछा, “अब तुम्हारे पाँच बजे हैं ? घरसे निकलनेके बाद तुम्हे लौटनेकी सुधि ही नहीं रहती ? चलो जल्दी, सात बज रहा है ।”

विवेकने जैसे माँकी बात सुनी ही नहीं । वह मुड़-मुड़कर अपने मित्रोंकी ओर देखता जा रहा था, और उदास मनसे हाथ हिला-हिलाकर विदा लेता हुआ चिल्लाता जा रहा था, “कल मिलेंगे—तुम कितने बजे तक स्कूलसे आ जाओगे.....ठीक है.....देर मत करना.....सबको जमा कर लेना.....सबसे पहले ‘चोर-चोर’ खेलेंगे.....टा-टा.....”

तभी कल्पनाने क्रुद्ध स्वरमें कहा, “पीछे कहाँ देख रहे हो, ठीकसे रिक्शेपर चढ़ो नहीं तो गिर पड़ोगे ।”

लेकिन विवेक अपने ही संसारमें खोया था । मित्रोंको छोड़कर घण्टों चुपचाप सीधे बैठकर समझमें न आनेवाली बातोंको सुननेका दण्ड झेलनेके लिए जानेसे पूर्व वह अपने साथियोंके हिलते हुए नन्हें-नन्हें हाथोंको जी-भर देख लेना चाहता था, उनकी स्नेह-भरी मुसकानें बटोर लेना चाहता

था। अनमने भावसे उसने रिक्शेपर पैर रखा ही था कि फिसलकर नीचे गिर पड़ा।

“गधा कहीका ! देखकर तो कभी काम करता ही नहीं ! लगता है किसी दिन हाथ-पैर तोड़कर ही मानेगा !” राकेशने झल्लाकर कहा।

“देखूँ... क्या ज्यादा चोट लग गयी है ?” कल्पनाने रिक्शेसे नीचे उतरते हुए पूछा। दाहिने घुटनेके पास पैन्टपर खून झलक रहा था। उसने पैन्ट उठाकर देखा, घुटनेपर मांस कुछ छिल-सा गया था। आश्वस्त होकर बोली, “चोट तो खास नहीं लगी है, लेकिन पैन्ट बदलना पड़ेगा। इसपर खून भी लग गया है और धूलमे भी सन गया है।”

“ऊँह, अब फिर घर खोलोगे, कपड़े बदलवाओगी, पैरपर पट्टी बाँधोगी तो घण्टा-भर इसीमे लग जायेगा ! इतनी देरसे पहुँचनेसे तो अच्छा है कि चलो ही मत !”

“पिताजी, अगर आप लोगोंको देर हो रही हो तो हम अरविन्दके घर रुक जायें, आप लौटते समय हमे ले लीजिएगा। दर्द बहुत हो रहा है। वहाँ हमसे इतनी देर बैठा कैसे जायेगा ?” विवेकने स्वरसे पीड़ा व्यक्त करनेकी चेष्टा करते हुए सुझाव दिया।

“और यहाँ उछलते-कूदते रहोगे तब कुछ नहीं होगा ?” राकेशने पूछा।

“खेलेंगे कैसे, बस बैठे-बैठे देखते रहेगे। दर्दके मारे पैर तो रखा ही नहीं जा रहा है।” विवेकने ऐसा मुँह बनाया मानो बहुत कष्टमे हो। उसके भोलेपनपर कल्पनाको हँसी आ गयी।

“यहीं खेलने दीजिए बेचारेको, उसका मन बहला रहेगा !”

मित्रको गिरते देख अरविन्द भी पास आकर खड़ा हो गया था। मौका देखते ही बोला, “चाचीजी, विवेकको यहीं छोड़ दीजिए। मैं अभी माँसे कहकर इसके पैरमे दवा लगवा दूँगा।”

“अच्छी बात है, जाओ।” राकेशने कहा।

अरविन्द विवेकका हाथ पकड़कर हिरणकी तरह भागा । दूरसे ही उसने ऐलान किया, “विवेक लौट आया, खेल फिरसे शुरू होगा !”

क्षण-भर बाद ही मित्र-मण्डलीका उल्लासपूर्ण स्वर गूँज उठा—

“हरा समन्दर, गोपी चन्दर,

बोल मेरी मछली कितना पानी ?”

“इतना पानी !” विवेकने घुटनोंपर हाथ टेक लिये । तबतक वह चोटकी बात बिलकुल भूल चुका था ।

साँझ ठले

“कौन ?”

“मे हूँ, कपिला ।”

“तू है बेटी ! ज़रा मुझे गुसलखानेतक पहुँचा देगी ? बहुत देरसे बैठी सोच रही थी कि कोई आ जाये तो हाथ पकड़कर मोरी तक चली जाऊँ । बैठे-बैठे पेटमे दर्द होने लगा ।”

“उँह, चलो !” लगभग आठ वर्षकी बालिकाने मुँह बनाते हुए कहा, “लेकिन अगर कहीं गिर-गिरा पड़ो दादी तो मैं नहीं जानती । इतनी भारी तो हो, मुझसे भला क्या सँभलोगी ।”

वृद्धाने बच्चीकी बातका बुरा नहीं माना । उसकी गहरी, धँसी हुई आँखोंमे कही कोई भाव नहीं था—जैसे उनमे देखनेकी शक्ति न हो या देखकर भी वे व्यक्ति या वस्तुको पहचान न पा रही हों, जैसे शीशेके छोटे-छोटे दो टुकड़े रगड़ते-रगड़ते चिकने और गोल हो गये हों, ज़िन्दगीकी ऊँची-नीची सतहपर प्यार, घृणा, दया, द्वेष सब घिसकर बराबर हो गये हों । चाँदनीमे रँगें-से सफ़ेद बाल, और सिलवटें पड़े रेशमी कपड़े-सा चेहरा । खाटसे उठती थी तो जान पड़ता था मानो शरीरके अंगोंमें कोई धातु पिघलाकर भर दी गयी हो । उसने अपना हाथ पाटीपर रख दिया—काँपता हुआ, सफ़ेद, सूखा निर्जीव-सा हाथ । पट्टियोंसे बँधे पैर लड़खड़ाते हुए ज़मीनपर टिक गये । उसका बाँया हाथ हवामे इस प्रकार कुछ टटोलने लगा जैसे कोई अन्धा लकड़ी खोज रहा हो ।

“यह हूँ,” कपिलाने आगे बढ़कर हाथ थाम लिया ।

“दादी, तुम्हारी खूजली अब कैसी है ?”

“हँ ?”

“कुछ नहीं।” कपिलाको उसके घिसट-घिसटकर चलनेपर बहुत खीज लग रही थी। कहीं वह गुड़ियाकी साड़ीके लिए गोटा लेने आयी और कहीं इस झंझटमें फँस गयी !

“इनके मारे तो नाकमे दम है ! इतनी बार कह दिया कि अम्माँ तुम टेसूका हाथ पकड़कर आया-जाया करो, तुम्हारे हाथमे खुजली है, घरभर-के हो जायेगी, लेकिन इनकी समझमे तो आता ही नहीं !” मृणाल दूरसे ही सासको कपिलाके साथ आते देखकर बड़बड़ायी, फिर पास जाती हुई बोली, “तेरी आदतें कितनी बिगड़ गयी है कपिला, कोई बात सुनती ही नहीं। जा, जाकर नहा-धो, नहीं तो अभी तेरी मरम्मत करके ठीक करती हूँ ! चुड़ैल कहीकी !”

कपिला दादीका हाथ माँको थमाकर उछलती हुई भाग गयी। अम्माँ उसी प्रकार आगे बढ़ती रहीं जैसे कोई नन्हा बच्चा नया-नया चलना सीख रहा हो और बिना गिरे, बढ़े हुए हर कदमपर उसे सन्तोष और गर्व हो रहा हो। दो कमरे पार करके जाने-आनेमे वह बहुत थक गयी, खाटपर पड़ते ही नीद आ गयी। आँख खुली तो महाराजिन बच्चोंको खाना परोस रही थी।

“दही-चीनी.....”

“मीठा अचार.....”

“चटनी और चावल.....”

“नहीं नहीं, पहले रोटी, इसे बादमे।”

“ओहो गुलाबजामुन ! एक नहीं, दो लेंगे !”

बूढ़ा सुनती रही। किन्तु गुलाबजामुनका नाम सुनकर उससे रहा नहीं गया। “क्या घरमे बना है ?” उसने पूछा।

“हाँ दादी, बहुत बढ़िया है। बिलकुल इक्लीवाले गेंदके बराबर,” सुधीरने उत्साहके साथ कहा।

“अच्छा ! खूब गुलाबी सिका है ?”

“हाँ, तुम खाओगी ?” बच्चेने पूछा ।

अम्माने धुंधली आँखोंसे महाराजिनकी ओर देखकर लज्जित स्वरमें उत्तर दिया, “नहीं बेटा, मैं तो यही पूछ रही थी कि तुझे कैसा लग रहा है । मुझे तो डाकदरने मीठा मना किया है ।”

महाराजिन व्यंग्यके साथ मुसकरा दी । अम्माँ देख नहीं पायीं; बच्चों-का ध्यान भी अपनी-अपनी थालीपर था, फिर भी अपने व्यंग्यपर महाराजिनने जैसे स्वयं ही सन्तोष पा लिया ।

“एक गुलाबजामुन और ढेर-सा रसा । जल्दी ।”

“मेरे लिए भी……”

“अम बी लेदे !”

“लायी बाबा, लायी ! जरा दम लो,” कहती हुई महाराजिन चली गयी ।

अम्माने लम्बी साँस लेकर सुधीरसे पूछा, “क्यों लल्ला, बीमारीमे मीठा क्यों नुकसान करता है ?”

“पता नहीं दादी, डाक्टर जाने !”

“तू डाकदरी पढ लेना बेटा, तो तू भी सब जान जायेगा । मैं तो तेरे बापको डाकदर ही बनाना चाहती थी मगर उसे इन्जीनरीका सौक था । तेरे दादाजीके हाथमे तो ऐसा जस था कि अगर मुरदेके मुँहमे भी दवा डाल दें तो वह उठ खड़ा हो । उनके हाथका एक-आध परचा तो अब भी मेरे पास रखा है……जरा एक गिलास पानी उठा दे, ओंठ बहुत सूख रहे हैं……”

“बहूजी, मैंने कहा कि आज बूढ़ाको मीठा ज़रूर दे देना, नहीं तो बच्चे बीमार पड़ जायेंगे ! सबसे पूछ रही थीं कि कैसा बना है, काहेका बना है, कैसा रंग है, कितना बड़ा है,” भीतर जाकर महाराजिनने हाथ नचाते हुए मालकिनसे कहा ।

“राम जाने बुढ़ापेमे इतनी तूष्णा कहाँसे फट पड़ती है ! अरे खानेको

जो मनमे आये वह खायेँ, घरमे भगवान्का दिया सब-कुछ है। मगर जो कुछ डाक्टरने मना किया हुआ है उसपर तो जरा सन्तोष रखें।” मृणालके माथेपर तीन बल पड़ गये। उसने प्लेटमे एक गुलाबजामुन रखकर चमचा उठाते हुए कहा, “अम्माँका खाना भी परोस लाओ।”

अम्माँको भूख लगी थी। पहले गुलाबजामुन देखते ही मुँहमे पानी आ गया, लेकिन संकोचके साथ बोली, “इसे रहने दे बहू, शायद नुकसान ही कर जाये !” कहते-कहते उन्होंने चमचा उठा लिया।

“खा लो अम्माँ ! कभी-कभी खानेमे कोई नुकसान नहीं होगा और अगर हो भी तो कोई क्या करे।”

“सो तो है ही ! अच्छा तेरे कहनेसे खा लेती हूँ।” उन्होंने चमचेसे काटकर एक टुकड़ा मुँहमे डालकर स्वाद लेते हुए कहा, “बहुत अच्छा है। ऊपरसे गुलाबजल भी डाला है क्या ?”

“हूँ।”

वृद्धाने फिर कुछ नहीं कहा। बहू भीतर रसोईमे चली गयी और वह एकाग्र-चित्त होकर गुलाबजामुन खाने लगी। उसे खा चुकनेके बाद रसा चाटा। धीरे-धीरे रसा भी खत्म हो गया तो वह चमचा मेजपर रखकर प्लेट चाटने लगी।

“बस भी करो अम्माँजी, अब उसमे क्या लगा है ? ये लो खाना रखा है,” महाराजिनने थाली आरामकुरसीके पास लगी मेजपर रखते हुए कहा।

अम्माँकी जीभ सहसा रुक गयी। उन्हें लगा जैसे किसीने चाकू लेकर सारा स्वाद खरोंच डाला हो। वह चुपचाप आगे झुककर खाना खाने लगी। तरकारीमे नमक कम लगा, किन्तु माँगनेका साहस न हुआ।

खाते-खाते वह सोचने लगीं—गुलाबजामुन मुझे सबसे बादमें खाना चाहिए था, जैसे मुझे उसकी कुछ परवाह ही न हो। लेकिन मैंने गलती की—और इस चीलकी तरह आँखोंवाली महाराजिनने मुझे प्लेट चाटते

देख लिया। यह जरूर बहूसे भी कह देगी—सब लोग क्या सोचेंगे भला ? ऊँह, जो मनमें आये सोचे मगर गुलाबजामुन था बहुत गजबका !

यों तो बुढ़ापेका हर नया दिन मुँह बनाये आता है : जला-भुना, घूरता-गुराता—लेकिन संयोगवश गुलाबजामुन खानेके दूसरे दिन अम्माने इसका विशेष रूपसे अनुभव किया। पेटमें दर्द, जोड़ोंमें जलन—ऐसा लगता था जैसे शरीरके सब जोड़ खुलकर बिखर जायेंगे। वह निढाल-सी खाटपर पड़ी थी। मृणाल धोबीके लाये हुए कपड़े मिला रही थी।

“मेरी चारों धोतियाँ हैं, बहू ? एक लाल धारीकी, एक चौड़े नीले किनारेकी, एक बैजनी महीन कन्नीकी, और चौथी सफेद मलमलकी।”

“हाँ, सब है।”

“और सलूके ?”

“वह भी ठीक है !”

“एक नया जालीका धुलने गया था, उसी कपड़ेका जो तुम मथुरासे दो रुपये तेरह पैसे गज लायी थीं !”

“वह भी है !”

“और पेटोकोट ?”

“मैं सब ठीकसे देखकर मिला लूँगी अम्मा, तुम बीच-बीचमें पूछती रहोगी तो सब कपड़े गड़बड़ हो जायेंगे।” मृणालने खीजकर कहा।

अम्माने करवट बदल ली और दीवारकी तरफ देखती हुई मुँह-ही-मुँहमें अपने कपड़ोंकी गिनती करने लगीं।

“चार धोतियाँ ये, और तीन गन्दी पड़ी हैं—सात। और आठ सन्दूकमें रखी हैं—पन्द्रह। सलूके चार ये हैं और दो गन्दे हैं—छह। बाकी आठ रखे होने चाहिए, मगर सात ही तो हैं—एक कहाँ गया ?... अच्छा अच्छा... वह डोरियेवाला तो गरमियोंमें बन्दर उठा ले गये... ऊँह हूँ... बुखार है क्या ! बदन तो जैसे जला जा रहा है ! हाथ देखना

जरा, बहू.....”

“अरे, तुम्हारा बदन तो तवे-सा तप रहा है, अम्माँ.....असलमे तुम परहेज तो बिलकुल करतीं ही नहीं। कही मीठा खा लिया, कही कुछ ! लो फिर बुलाओ डाक्टरको !”

“मौसम भी तो कैसा है। घड़ीमे धूप, घडीमे पानी। लगता है सर्दी लग गयी।” अम्माँने कुछ सहमकर सफ़ाई दी।

“सर्दी क्या अम्माँ, तुम जभी बदपरहेजी करती हो तभी तुम्हारी तबीयत खराब हो जाती है। डाक्टरसाहब आते ही पूछेंगे कि कल क्या खाया था। ‘ये’ भी मुझपर ही बिगड़ेंगे कि मैंने तुम्हे गरिष्ठ चीज क्यों खाने दी। मेरी बीचमे अच्छो मुसीबत है। खाओ तुम, डॉट पड़े मुझे !”

“और बहूजी, अम्माँजीने शीरा भी तो ढेर-सा चाटा था ! भला तुम्ही बताओ बहूजी, गुलाबजामुनकी चाशनी कम नुकसान करे है ?” महाराजिनने हाथ और आँखें नचाते हुए कहा, “लेकिन भैया, बड़े लोगोकी बातमे टोके कौन ! हमने कहा जो ठीक समझें, करे।”

अम्माँने दोनोको वैसी ही विवश-सहमी हुई दृष्टिसे देखा जैसे अपराधी बालिका पितासे शिकायत कर देनेकी धमकी सुनकर माँकी ओर देखती है। बहू कपड़े उठाकर भीतरके कमरेमे चली गयी। महाराजिन भी रसोईमे जानेके लिए उठी। अम्माँने उसे संकेतसे पास बुलाया और सलूकेकी जेबसे एक रुपयेका नोट निकालकर उसके हाथमे देती हुई बोलीं, “यह रख लो महाराजिन, अपने लड़केको दे देना, खिलौने-मिठाई ले आयेगा। और सुनो—जब.....जब डाकदर साहब आयेंगे न, तो.....तो तुम उनसे गुलाब-जामुनकी बात मत कहना। और देखो, अमितसे भी कुछ मत कहना। समझी न ?—बहूको भी उस बखत थोड़ी देरके लिए चौकेमे बुला लेना। अच्छा !”

महाराजिनने एक कुटिल मुसकानके साथ सिर हिलाते हुए कहा,

“अच्छी बात है,” और नोट जेबमें रखकर वह रसोईमें चली गयी। अम्माँ चाह रही थी कि वह निश्चित रूपसे कुछ कह जाये किन्तु उससे ऐसा कोई आश्वासन न पाकर उन्हें रुपया व्यर्थ खर्च कर देनेका पछतावा होने लगा और यह आशंका उनके मनको बार-बार कचोटने लगी कि कहीं बहू या महाराजिन समयपर भेद खोल न दें !

शाम होते-होते अम्माँका बुखार काफी बढ़ गया। हाथ-पैर बिगड़े हुए रईस, मनचले युवा लड़केकी तरह, बेहाथ हो गये। अंग-अंग शिथिल, निष्प्राण-सा। बेटेने दफ्तरसे लौटनेपर जब माँकी बीमारीका समाचार सुना तो चिन्तित होकर डाक्टरको फोन किया और माँके पास बैठकर उसके माथेपर हाथ फेरता हुआ पूछने लगा, “कैसी तबीयत है अम्माँ ? क्या बदन बहुत टूट रहा है ?—माथेमें भी दर्द है ?”

माँने आँखें खोलकर बेटेको देखा। सब कुछ धुँधला, अस्पष्ट दिखायी देते हुए भी उसके चेहरेकी एक-एक रेखा उसे स्पष्ट दिखायी देती थी, मानो केवल स्पर्शसे, सामीप्य-मात्रसे वह उसे पहचान लेती हो। उसने अपने माथेपर रखे अमितके हाथपर-हाथ रखकर मुसकरानेका प्रयास करते हुए स्नेहसे भीगे स्वरमें कहा, “अब तो दर्द कुछ कम है बेटा, तूने डाक्टरको बेकार ही बुलाया।”

“ठीक है माँ। डाक्टरसाहब देखकर दवा दे जायेंगे तो बुखार और भी जल्दी उतर जायेगा।”

तभी डाक्टरकी मोटर बाहर रुकी। अमित उनके हाथसे बेग लेकर उन्हें भीतर लिवा लाया। डाक्टरने काफ़ी देर गम्भीरतापूर्वक परीक्षा करनेके बाद कहा, “माँजी, कोई खास बात नहीं है—आप जल्दी ही अच्छी हो जायेंगी। दवा मैंने लिख दी है—चार-चार घण्टेपर पी लीजिएगा। और हाँ, आपकी इच्छा क्या खानेकी होती है ?”

“कुछ नहीं, कुछ नहीं डाकदर साहब; जो कुछ आप बताते हैं मैं वही खाती हूँ। बदपरहेजी तो कुछ नहीं की मैंने,” अम्माँने घबड़ाकर कहा।

“नहीं, नहीं, यह बात नहीं है। मेरे कहनेका यह मतलब है कि अबसे आपके खानेपर कोई रोक नहीं है, आप जो कुछ चाहे खा सकती है।”

“गुलाबजामुन भी ?” रोकते-रोकते भी अम्माँके मुँहसे निकल गया।

“हाँ गुलाबजामुन भी, जितनी आप चाहे उतनी। अच्छा, अब मैं चलूँगा—आप किसी बातकी फिकर मत कीजिएगा, तबीयत पहलेसे सुधर गयी है। सिर्फ बुखार है, वह भी दो-चार दिनमें ठीक हो जायेगा।”

सुनकर अमितका माथा ठनका किन्तु अम्माँने विजेताकी-सी दृष्टि कमरेके द्वारपर डाली जहाँ गृहस्वामिनी और महाराजिनकी धोतियाँ झलक रही थी। उनकी जीभपर अब भी गुलाबजामुनका स्वाद था।

अब मैं चार-छह गुलाबजामुन एक-साथ खाऊँगी—वह महाराजिनकी बच्ची अब कुछ नहीं बोल सकती, उसे लाकर देनी ही होगी। बेकार मैंने एक रुपया उस चुडैलको दे दिया। सामने खड़ी है; अब आकर डाकदरसे कुछ कहे तो जानूँ ! अम्माँने सोचा।

बाहर बूढ़े डाक्टरसाहब अमितकी पीठपर हाथ रखे कह रहे थे, “तुम्हारी माँका समय आ गया है बेटा, अब जो दो-चार दिन बचे हैं उन्हें वे जैसे चाहे, बिता लेने दो। बिना किसी बन्धनके, बिना किसी इन्जेक्शन या कड़वी दवाके। भगवान्‌पर भरोसा रखो ! मैं कल फिर देख जाऊँगा—नहीं, फीस नहीं लूँगा।”



तल और सतह

समय : गोधूलि; मौसम : गुलाबी जाड़ा; स्थान : एक कैफ़े; आकर्षण-केन्द्र : उसकी सुन्दरी नवयुवती संचालिका, तृष्णा । कुल मिलाकर लोग खिचे चले आ रहे थे । कोनेमें पड़ी चार-छह कुरसियोंके अतिरिक्त शेष सब भर चुकी थी । एक युवक बहुत धीमी सीटीपर 'है मेरा दिल तो आवागान जाने किसपै आयेगा !' गाता और तिरछी निगाहोंसे तृष्णाको 'तुमपर तो नहीं आया ?' के भावसे देखता उस ओर बढ़ा ।

कैफ़ेमें जगह-जगह तरह-तरहके विषय छिडे हुए थे । कहीं लोग छोटे-छोटे ग्रुप बनाकर विचार-विनिमयको बड़ी लगनके साथ तर्क-कुतर्कका रूप दे रहे थे, कहीं ऐक्टर-ऐक्ट्रेसोंके जीवन-चरित्र तथा रूप-गुणोंकी जानकारीकी प्रतियोगिता छिडी हुई थी, तो कहीं लोग हसरत-भरी निगाहोंसे तृष्णाको देखते हुए उसके सम्बन्धमें बातें कर रहे थे । एक पंजाबी सज्जनने मुँछका कोना मरोडते हुए अपने साथीसे अर्थ-भरे शब्दोंमें कहा,

“लगदी चंगी ऐ” (अच्छी लगती है !) ।

“खाए खसमाँ नूँ ! देख दीने ऐंज ए जिदें कोई शेरनी होवे । सानूँ ते खास सोहनी बी नई लगदी । ऐदे कोलो चंगी ते साड्डे काके दी माँ ए !” (जहन्नुममें जाये । देखती तो ऐसे है जैसे कोई शेरनी हो । हमे तो कोई खास सुन्दर भी नहीं लगती । इससे अच्छी तो हमारे काकेकी माँ है ।)

“वल्ले ! वल्ले ! तू ते शादी करके पक्का वेजीटेरियन हो गया ऐँ !” (बाह भई ! तू तो शादी करके पक्का वेजीटेरियन हो गया है ।)—कहता हुआ वह व्यक्ति जानेको उठ खड़ा हुआ ।

काउण्टरके दायाँ ओर बैठे एक अधेड़ सज्जनकी भूखी दृष्टि तृष्णापर टिकी थी । उन्हें इस तरह बेखबर पाकर उनके मित्रने हँसकर कहा,

“दास दादा, चायपर दोअन्नी बेकार खर्च की। रखी-रखी ठण्डी हो गयी, लेकिन आप ऐसे परमहंस हैं कि……”

दासजी झेंप मिटाने के लिए हँसते हुए बोले, “किया बोलता है, दादा ! हमरा लौरकीका माफिक हए ! ओ बाबा, बापका बीमारीमे कीतना काम सम्हाला हाय……”

धीरे-धीरे शाम ढलती गयी। भीड़ छँटने लगी। तृष्णाने वहाँ बैठे आठ-दस लोगोंपर दृष्टि डालते हुए बूढ़े रामनाथको बुलाकर कहा,

“अब दूकान बन्द करवाना शुरू करो, रामनाथ काका ! देर हो रही है।”

तभी एक युवक सीधा काउण्टरके पास आकर धीरेसे बोला,

“मैने कहा, नमस्कार !”

“तृष्णाने नमस्कारका उत्तर न देते हुए उलाहने-भरी दृष्टिसे उसे देखकर कहा,

“ओहो आप ! बैठिए।”

“बहुत देर हो गयी न ?……नाराज हो ?”

“नही, नाराज होनेकी बात ही क्या है ! आप आ गये—यही क्या कम कृपा की।”

“‘तुम’ से एकदम ‘आप’की नौबत आ गयी ? तब तो स्थिति सचमुच गम्भीर जान पड़ती है।”

तृष्णाको हँसी आ गयी। पूछा, “घड़ी बन्द हो गयी थी क्या, श्रीमान् ?”

“तुमसे दूर रहनेपर घड़ी तो हमेशा ही बन्द रहती है। लेकिन आज बात वास्तवमें यह हुई कि माताजीने बाजारके कामोंकी इतनी लम्बी-चौड़ी लिस्ट मेरे हवाले कर दी कि इससे पूर्व निकल ही नहीं पाया। खैर, तुम्हारी यही इच्छा है तो आगेसे मैं उनसे स्पष्ट कह दिया करूँगा कि आपकी भावी पुत्रवधू प्रतीक्षा कर रही होगी और समयपर न पहुँचनेपर

रुष्ट होगी, अतः इस समय मुझे क्षमा करें ! ठीक है न ?”

तृष्णा लजा गयी ।

“क्यों नहीं, यही सब तो करोगे ! सच पूछो तो तुम्हारे आनेकी बात मैं भूल ही गयी थी । तुम्हें सामने देखा तो ध्यान आया ।”

“अब सच बात कही है आपने । यहाँ तो भगवान्‌की कृपासे इतनी भीड़ लगी रहती है कि कौन आया और कौन नहीं आया, इसपर ध्यान देनेका आपको अवकाश ही न मिल पाता होगा । देखकर पहचान लिया यही क्या कम सौभाग्य है मेरा !”

“कुछ खा-पी लीजिए तो क्रोध शान्त हो जाये । क्या मँगवाऊँ ?” तृष्णाने मुसकराते हुए पूछा ।

असीमने कोहनियाँ मेजपर टेक कुछ आगे झुककर धीरेसे कहा,

“बस, अपने हाथसे एक प्याला चाय बनाकर दे दो !”

उसकी अनुरागपूर्ण दृष्टिमें खोयी हुई तृष्णा आहिस्तेसे बोली,

“इस तरह मत देखा करो जी ! लोग तरह-तरहकी बातें करते होंगे ।”

“क्या बातें करते होंगे ? मैं तो कभी-कभी ही यहाँ आता हूँ, सो भी पन्द्रह-बीस मिनटके लिए । यहाँ तो पचासों लोग ऐसे निकल आयेगे जो नित्य आकर बैठते होंगे, और जब रोज-रोज आते होंगे तो तुमसे हँसते-बोलते भी होंगे । उसमें कोई दोष नहीं ? सारा दोष मुझसे बातें करनेमें ही है ?”

“सारी बात ऐटीट्यूडकी है । जब और किसीसे मैं इतने अपनत्वके साथ बात करती ही नहीं तो कोई कहेगा क्या ।”

“इतने अपनत्वके साथ बात नहीं करती—इसका क्या मतलब ? थोड़े अपनत्वके साथ औरोंसे भी बोलती हो ?”

हँसीमें कही जानेपर भी बात तृष्णाको बुरी लगी । चिढ़कर बोली,

“तुम तो बेहद शक्की होते जा रहे हो । अर्थ नहीं देखते, भाव नहीं परखते, बस शब्दोंमें ही उलझ जाते हो.... ।”

अचानक बैराको पास आते देखकर उसने चट बात बदलते हुए पूछा,
“और कहिए, क्या हाल-चाल है ?”

“बस आपकी कृपा है। जीवित है किसी तरह !” असीमने हाथ जोड़कर उत्तर दिया।

बैरा चाय लानेका आदेश पाकर वापस चला गया। तृष्णाने उलाहना दिया,

“यह क्या तमाशा है ! मेरे सीधे-से प्रश्नका आप जनाब बैराको सामने देखते हुए भी इतने रोमाण्टिक ढंगसे जवाब देने लगे ?”

“मैं, और रोमान्स ! भगवान्‌का नाम लो। मैंने तो एकदम सरल भावसे उत्तर दिया था। असलमे सारी बात ऐटीट्यूडकी है। लगता है तुम्हारे मनमे ही कही खोट है !”

दोनों हँस पड़े। बैरा ट्रे रखकर चला गया। चाय पीनेके बाद असीमने पूछा,

“अब घर जाओगी ?”

“हाँ।”

“चलो मैं छोड़ आऊँ ! रात हो गयी है, इस समय अकेले जाना ठीक नहीं।”

“अकेली नहीं, रामनाथके साथ जाऊँगी।” तृष्णाने उत्तर दिया,
“तुम्हारे साथ रातमे घर जाना उचित नहीं होगा।”

“सोचता हूँ उचित-अनुचितकी एक लिस्ट तुमसे बनवाकर मैं भी अपने पास रख लूँ। तुम्हे तो खास ज्ञान है इसका।”

“और व्यंग्य करना मैं आपसे सीख लूँ। ठीक है न ?” “खैर, छोड़िए। डाक्टर कहते हैं कि पिताजी आठ-दस रोजमे बिल्कुल ठीक हो जायेंगे। तब उनसे मिलकर खुद ही बात कर लेना। उसके बादसे तो....”

“और जो कही वे न मानें ?” असीमने चिन्ता प्रकट की।

“हाँ, कुपात्रको कन्या सौंपनेमें संकोच तो उन्हें ज़रूर होगा !”

तृष्णा हँसी तो लगा जैसे अमावसकी रातमें अचानक पूनोकी चाँदनी बिखर गयी।

रामनाथ दूकान बन्द करवाने लगा।

“कल मेरी छुट्टी है। दिनमें मैं एक बजेके लगभग यहाँ आऊँगा और फिर यहाँसे तुम मेरे साथ घूमने चलोगी।”

“आदेश है?”

“हाँ, बिलकुल!”

“लेकिन……”

“कोई लेकिन-वेकिन नहीं सुनूँगा। तुम हमेशा इसी तरह टाल देती हो।”

“अच्छी बात है, कल चलूँगी; पक्का रहा।”

घर पहुँचकर तृष्णाने पिताको बरामदेमें आरामकुरसीपर प्रतीक्षा करते पाया।

“तबीयत ठीक है न, बाबू?” उसने दूकानकी बिक्रीके रुपयोंकी थैली पिताके हाथमें देते हुए पूछा।

“ठीक हूँ, बेटी! … ये रुपये मैं क्या करूँगा, तू ही सम्हालकर रख दे।”

फिर उसके थके चेहरेको लक्ष्यकर बोले,

“बहुत तकलीफ उठायी है तूने। तीन-चार महीने दूकानका भी काम सम्हाला, घरका भी; और मेरी भी देख-रेख की। बेटा है मेरा, बेटी थोड़े ही है!”

तृष्णाको सुनकर बहुत अच्छा लगा।

“दवा पी ली थी?” उसने पूछा।

“हाँ। दूध और टॉनिक भी ले लिया था, लेकिन फल खानेकी याद नहीं रही।” वृद्धने अपराधी बालककी भाँति मुँह बनाया।

“मुझे क्या, कल दूने खाने पड़ेंगे!” तृष्णाने कहा, और फिर पास

बैठकर दिन-भरका हाल सुनाने लगी। केवल असीमके सम्बन्धमे कुछ नहीं बताया।

X

X

X

घने वृक्षोंके बीचसे हलकी-हलकी धूप छनकर आ रही थी। असीमने कुँएकी जगतके पास मोटर-साइकिल रोक दी।

“यही कुछ देर घूमे?”

“हाँ!” तृष्णा मन्त्रमुग्ध होकर चारों तरफ़ देखने लगी। “मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि शहरसे इतने पास इतना सुन्दर स्थान होगा!”

आस-पास खेतोंमे किसान काम कर रहे थे। दूर तक दृष्टि डालनेपर लगता था जैसे खिलखिलाता हुआ विमुग्ध आकाश धरतीके कानमे कुछ कहनेके लिए नीचे झुका हुआ हो। सड़कपर थोड़ी-थोड़ी देर बाद इक्के, साइकिलें और गाड़ियाँ निस्तब्धताको भंग करती हुई निकल जाती थी।

“आज पहली बार लग रहा है कि हम दोनों साथ हैं, नहीं तो हर समय—देखो मत, बोलो मत, हँसो मत—हजार तरहके नियन्त्रणोंका ध्यान रखते-रखते जो दुःखी हो जाता है।”

“मुझे तो विश्वास ही नहीं हो रहा है कि यह सब सच है। यह सामने दूर-दूर तक बिछी हरियाली, यह तालाब, किनारे बना वह टूटा-फूटा मन्दिर और तुम्हारा सामीप्य—अगर यह स्वप्न भी है तो बहुत मधुर है।”

“यह वह स्वप्न है जो कभी नहीं टूटेगा।”

“चलो उस मन्दिर तक चलें, देखें किसका है!” उल्लसित, नन्ही बालिकाकी-सी चपलतासे आगे बढ़ती हुई तृष्णाने कहा।

“चलो!” असीमने उसका हाथ थाम लिया।

“तुमने अपनी माताजीको बता दिया?”

“नहीं, अभी कुछ नहीं कह पाया हूँ।”

“क्यों?”

“बात यह है कि उन्होंने मेरी शादीकी बात दूसरी जगह पक्की कर रखी थी। अब धीरे-धीरे उन्हें समझाना होगा। अभी तो मैंने वहाँ विवाह न कर सकनेकी असमर्थता-भर प्रकट की है।”

“तुमने लड़की नहीं देखी है क्या ?”

“देखी क्यों नहीं, पचासों बार देखो है। मेरे साथकी पढी हुई है।
—बहुत अच्छी है—देखनेमे भी, और मनसे भी।”

तृष्णाका मुँह उतर गया। असीमने यह लक्ष्य नहीं किया और कहता गया,

“सच पूछो तो मुझे उसके लिए दुःख है।”

“अभी कौन-सी देर हो गयी है !” आहत स्वरमे वह बोली।

“नही तृष्णा, अब तुम्हारा स्थान कोई दूसरी नहीं ले सकेगी।”

“लेकिन मैंने तो किसी दूसरीकी ही जगह छीनी है।”

“नही। लगता है तुम्हारे स्थानको पानेकी अनधिकार चेष्टा किसी दूसरीने की थी, बस। आओ चलो, भीतर चलें।”

दोनोंने चप्पलें बाहर उतार दीं। मन्दिरमे शिव-पार्वतीकी प्रतिमाएँ स्थापित थीं। कोई भक्त शिवजीको चन्दन और गौराको रोली चढा गया था। असीमने हाथ जोड़े, फिर उँगलीमें रोली लगाकर तृष्णाकी माँग भर दी। वह चौक पड़ी,

“यह क्या किया तुमने ?”

“जो कुछ दिन बाद समाजकी स्वीकृतिसे होना है, वही।”

तृष्णाने चुपचाप झुककर उसके चरण स्पर्श करके माथेसे लगा लिये और प्रतिमाके आगे हाथ जोड़कर मन-ही-मन कहा,

“हमारे विवाहमे कोई बाधा न पड़े, माँ ! आशीर्वाद दो कि मैं असीम को सदैव प्रसन्न रख सकूँ।”

इसके बादसे तृष्णाको लगने लगा जैसे सारे वातावरणपर किसीने जादू कर दिया हो। दस-बारह दिन पलक क्षपकते बीत गये। उसके

पिताजी चलने-फिरने लगे थे, लेकिन अभी दूकान आना शुरू नहीं किया था। वह इस प्रतीक्षामे थी कि वे पूर्ण रूपसे स्वस्थ हो जायें तब असीम उनसे मिलकर विवाहके लिए उनकी अनुमति प्राप्त कर ले। वह जानती थी कि उन्हें इस सम्बन्धकी जानकारी बेहद प्रसन्नता होगी, फिर भी बीमारी की दशामे इसकी चरचा चले यह उसे मान्य न था। इन्हीं बीमारीके दिनोमे असीम उसके इतने निकट आ गया था, यह वह पिताके सामने व्यक्त नहीं करना चाहती थी। फिर, वह उनकी एकमात्र सन्तान थी। उससे अलग होनेकी बात उन्हें आघात ही पहुँचाती।

उस दिन तृष्णा दूकान जानेके लिए नीचे उतर रही थी तभी डाकियेने एक पत्र लाकर दिया। उसे पढ़ते ही वह क्षण-भरको हतप्रभ-सी खड़ी रह गयी, फिर धीरे-धीरे वापस ऊपर अपने कमरेमे जाकर कुरसीपर बैठ गयी। दोबारा पत्र पढ़ा और उसे मेजकी दराजमे डाल दिया। आहट पाकर पिताने पूछा,

“तृष्णा, अभी दूकान नहीं गयी, बेटी?”

“जा रही हूँ, बाबू! रूमाल भूल गयी थी, वही लेने लौट आयी।” काँपते स्वरमे उत्तर देकर वह जानेके लिए उठ खड़ी हुई।

दिन-भर वह कोई काम न कर पायी। जो कोई कुछ भी पूछता, वह अनमनी-सी सिर हिलाकर हाँ-ना कर देती। असीमके आनेपर वह सहसा और भी उद्विग्न हो उठी। पास आते हुए उसने चिन्तित स्वरमे पूछा,

“क्या आज कुछ तबीयत खराब है? बहुत उदास दिखायी देती हो।”

“हाँ, जरा सिरमे दर्द है। और कोई खास बात नहीं।” उसकी ओर एकटक देखते हुए उसने बुझे स्वरमे उत्तर दिया।

“चलो, घर पहुँचा दूँ। जब तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं तो यहाँ बैठनेकी क्या जरूरत है? अब तो तुम्हारे पिताजी ठीक हो गये हैं, उनसे मिल भी लूँगा।”

“पिताजी अभी अस्वस्थ हैं। दो-चार दिन बाद मिल लेना। वैसे

अभी घर जा भी नहीं सकूँगी। एक सज्जनसे मिलना है। थोड़ी देरमे आते होंगे।”

“कोई सम्बन्धी हैं।”

“नही, पुराने परिचित हैं। उन्होंने और मैंने एक ही साल बी० ए० किया था। पिताजीको बहुत मानते हैं। बेचारे उन्हें देखनेके लिए छुट्टी लेकर आ रहे हैं। आज ही सुबह उनका पत्र आया है।”

“कहाँके रहनेवाले हैं?”

“हैं तो यहीके, वैसे आजकल बनारसमे काम कर रहे हैं,” अनमने भावसे तृष्णाने उत्तर दिया।

“बनारससे केवल तुम्हारे पिताजीको देखनेके लिए आ रहे हैं और पहुँचेंगे सीधे दूकान?”

“हाँ, नया घर उन्होंने देखा नहीं है। यहाँसे मैं साथ चली जाऊँगी तो उन्हें सुविधा रहेगी।”

आनेवाले युवकके प्रति तृष्णाके अपनत्वका भाव लक्ष्य करके असीम को बड़ी ईर्ष्या हुई। दो-चार मिनिट इधर-उधरकी बातें करनेके बाद उसने कहा,

“अच्छा तो मैं चलूँ। अब तो तुम्हारे अतिथि आते ही होंगे।”

“अभी तो घण्टे-भर बाद आयेंगे। गाडी लेट हो जानेपर और भी देर लग सकती है। तुम तबतक बैठो न?”

असीमको ‘तबतक’ बैठनेका आग्रह बुरा लगा।

“उनके आनेतक समय काटनेका अच्छा साधन मानती हो—यह मेरे लिए प्रसन्नताकी बात है, लेकिन मुझे भी कुछ काम हो सकता है।” उसने व्यंग्य किया।

तृष्णाने आहत स्वरमे कहा,

“तुम्हे साधन क्यों बनाऊँगी, तुम तो मेरे आराध्य हो। वह भंजिल हो जहाँ पहुँचकर मैं रुक गयी हूँ।”

“आराध्य हूँ तो इतना और बता दो कि तुम एक ही देवताको पूजती हो न ?”

तृष्णा चुप बैठी रही । कुछ उत्तर न पाकर असीमने फिर कहा,

“बहुत व्यक्तिगत प्रश्न नहीं पूछने चाहिए मुझे । क्यों ?”

“तुम्हारी मँगेतरका नाम क्या था ?” तृष्णाने बात बदलकर प्रश्न किया ।

“कौन-सी मँगेतर ?”

“कई है—यह तुमने मुझे कहाँ बताया था ?” उसने फीकी मुसकानके साथ कहा ।

“एक तो सामने बैठी है । दूसरी अब मँगेतर रही नहीं ।”

“क्या नाम था उसका ?”

“महिमा !”

“इसी नगरकी है ?”

“नहीं । आगरेके एक वकील है । उन्हीकी लडकी है । पिछले वर्ष फ़िलॉसफ़ीमे एम्० ए० किया है । पिताका नाम ज्योतिप्रसाद है, दादाका नाम……”

“बस बस, काफ़ी है ।” तृष्णाने हँसकर कहा, “मुझे उनपर रिसर्च थोड़े ही करनी है । वैसे ही ध्यान आ गया इसलिए पूछ लिया ।”

“तुम्हारे जो अतिथि जा रहे हैं उनका नाम जान सकता हूँ ?”

“अतिथि तो देवता होता है, उसका नाम जानकर क्या करोगे ?”

“केवल देवता ही है या आराध्य भी ?”

“जो समझो ।”

तृष्णा उठ खड़ी हुई और ‘अभी आयो’ कहती हुई कैबिनके बाहर चली गयी । असीमका मन कड़वाहटसे भर गया । उसने अनुभव किया कि इस लड़कीके लिए उसने इतना किया, बरसों साथ रही महिमा तकको ठुकरा दिया, फिर भी कृतज्ञ होना तो दूर रहा, साधारण-से परिचित—

या कौन जाने मित्र ही हों—के आ जानेसे ही इसने आँखें फेर लीं ।

बाहर तूष्णाने किसीसे पूछा,

“सेर-भर लीजिएगा ?”

“जी हाँ ।” पुरुष-स्वर सुनायी पड़ा, “आपके पिताजी अब कैसे हैं ?”

“अब तो आप सबकी कृपासे ठीक हो रहे हैं । कुछ ही दिनमें दूकान सँभालने लायक हो जाएँगे ।”

“आपने बड़ी तकलीफ़ उठायी, बहिनजी । लेकिन साथ ही यह भी कहूँगा कि निभाया भी बहुत कुशलतापूर्वक । सच पूछिए तो मुझे उम्मीद नहीं थी कि आप-जैसी एक पढ़ी-लिखी भले घरकी महिलाके लिए यह सब सम्हालना सम्भव होगा ।”

“आप लोगोके सहयोगसे ही निभ गया !” तूष्णाकी आवाज़ सुनायी दी । कुछ ही देरमें वह लौट आयी ।

“कौन रसिक थे यह ? बड़ी तारीफ़ कर रहे थे । तुमसे बातें करनेका बहाना खूब ढूँढ़ निकालते हैं तुम्हारे मित्र लोग !”

“मित्र हैं तो बातें भी करेंगे । नहीं तो मित्र कहायेंगे ही कैसे !” तूष्णाने भी व्यंग्यका उत्तर व्यंग्यमें ही दिया ।

“कल शाम तुम्हें किसी समय फ़ुरसत रहेगी, या बराबर अतिथि-सत्कार में लगी रहोगी ?”

“कल तो मुश्किलसे ही अवकाश मिल पायेगा ! सम्भव है हम लोगों का पिक्चर जानेका प्रोग्राम बन जाये !”

“हम लोगोका, यानी तुम और तुम्हारे अतिथि महोदय ?”

“हाँ !”

“मेरे साथ तो घूमने जानेको तुम बड़े अहसानसे तैयार हुई थीं, इन महाशयके प्रति बहुत उदार हो !”

तूष्णा चुपचाप उसकी ओर देखती रही ।

असीमको बुरा लगा, अब मेरी बातका उत्तर देना भी आवश्यक नहीं

समझती ?”

तृष्णाकी आँखें छलक आयीं। भीगे स्वरमे बोली, “बस करो, असीम ! सहनेकी भी कोई सीमा होती है।”

“तो फिर क्यों तुम मेरे विश्वासको हिला रही हो ? वचन दो कि कल शामको तुम मेरे साथ ज़रूर चलोगी।”

तृष्णा मौन रही। असीमने ही फिर कहा,

“तुम्हारे लिए मैंने किसीको दिया हुआ वचन तोड़ दिया; तुम्हारे लिए मैंने माँ-बापको असन्तुष्ट कर दिया; तुम्हारे लिए मैंने लोगोकी सौ तरहकी बातें सुनकर भी अनसुनी कर दी; लेकिन तुम ! तुम एक परिचितको इतना महत्त्व दे रही हो जैसे जन्म-जन्मान्तर उसीके साथ तुम्हे निर्वाह करना है; जैसे मेरी इच्छा-अनिच्छा, सुख-दुःखका कोई मूल्य ही नहीं।—यह नहीं चलेगा तृष्णा ! मेरे और अपने वर्तमान स्नेह-सम्बन्धोके बीच यदि तुम मुझे चुनती हो तो मैं तुमपर अपना एकाधिकार मानकर चलूँगा, अन्यथा मुझे अपने जीवनसे हट जाने दो।”

“अपने ऊपर तुम्हारा एकाधिकार स्वीकार कर पाना मेरे लिए कठिन होगा !” तृष्णाकी दृष्टि नीची थी, और स्वर धीमा।

‘तब तुमने मुझे इतने दिन धोखेमें क्यों रखा ? मूर्ख बनाकर तमाशा देखनेके लिए ?’

“.....”

“ठीक है, मैं जा रहा हूँ; और कभी स्वप्नमे भी वापस आनेकी नहीं सोचूँगा।” वह क्षण-भर रुका यह सोचकर कि शायद तृष्णा उसे रोकेगी, किन्तु वह उसी तरह नीचे देखती बैठी रही। धीरे-धीरे असीम कैबिनके बाहर चला गया।

तृष्णाने ग्लाससे पानी लेकर मुँह धोया और बाहर आकर रामनाथसे कहा कि वह दूकानको ठीकसे बन्द करवानेके बाद चाबी घरपर दे जाये। इसके बाद कब वह रिक्शापर बैठी, कब घर आ गयी—उसे कुछ भी होश

न था। अपने कमरेमें जाकर उसने भीतरसे उसे बन्द कर लिया, दराज खोलकर सुबहवाला पत्र निकाला और खिड़कीके पास कुरसी खींचकर बैठ गयी। उससे पत्र पढ़ा नहीं गया। कई बार प्रयास किया, किन्तु आँसू रोके नहीं रुक रहे थे। बहुत देर तक वह वैसी ही बैठी रही। फिर पत्र खोला तो लगा जैसे हर शब्द आँसुओमें तैर रहा हो। लिखा था—

आगरा

दीदी,

२१-६-१९४६

न जाने कबसे तुम्हें पत्र लिखनेके लिए कलम लिये बैठी हूँ, लेकिन कागज कोराका कोरा है। क्या लिखूँ? कहाँसे प्रारम्भ कहूँ?

एक प्रकाश-स्तम्भके सहारे तूफानी सागर पार कर रही थी। अचानक देखा कि वह महज एक चमकीली चट्टान है जिससे टकराकर चकनाचूर होनेके लिए मैं इतनी दूर चली आयी थी।

मैंने तुम्हें इस सम्बन्धमें कभी कुछ बताया नहीं, दीदी। अन्तरमें सुरक्षित उनकी स्मृतिपर किसीकी छाया तक नहीं पड़ने दी। किन्तु आज सब कुछ समाप्त हो गया। उन्होंने हमेशाके लिए मुझसे सम्बन्ध तोड़ दिया। मनके नाते कहीं इस प्रकार टूटा करते हैं? मैं तो अब भी उनकी हूँ, सदैव उन्हींकी रहूँगी; वे भले ही अपने दिये हुए वचन भूल जायें। जिसका नाम मेरी हर साँस रटती रहती है उसे मैं कैसे भूल जाऊँ? असीम (उनका यही नाम है) को तुमने कभी देखा नहीं दीदी; देखतीं तो मेरी पीड़ाका अनुमान कर पातीं। घरमें सब यही कहते हैं कि 'उसने सगाई तोड़ दी तो क्या हुआ, हमें उससे भी अच्छा लड़का मिल जायेगा। ज़रूर किसी लड़कीके चक्करमें पड़कर ही उसने ऐसा किया होगा! अच्छा ही है कि उसके रंग-ढंग पहलेसे पता चल गये।' उनके लिए कितना सरल है मनको समझा लेना। लेकिन सच कहती हूँ दीदी, मैंने मनसे जिस व्यक्ति का वरण कर लिया उसके अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्तिके साथ विवाहकी

कल्पना भी नितान्त असम्भव है। आजकल वे कानपुरमें ही हैं। पूरा नाम और पता लिख रही हूँ; जैसे भी हो, तुम एक बार उनसे मिल लो। जानती हूँ तुम्हें इसमें बहुत असुविधा होगी; लेकिन यह तुम्हारी महिमाके सुखका प्रश्न है, इसलिए मुझे विश्वास है तुम इस दिशामें कोई प्रयास उठा न रखोगी।

चाचाजी अब कैसे हैं ? उनसे मेरा प्रणाम कहना। सोचती हूँ कुछ दिनोंके लिए तुम्हारे पास चली आऊँ। अकेले जी बहुत घबड़ाता है।

तुम्हारी ही
महिमा



तर्कसे परे

पलंगपर लेटे-लेटे उमाने चोरोंकी तरह एक बार चारों ओर देखा, फिर सोये हुए शिशुको अपनी बाँहोंमें भरकर उसका माथा चूमते हुए गद्गद स्वर में धीरेसे कहा, “मेरे लाल !”

विवाहके दस वर्ष बाद उसकी गोद भरी थी । उसके पति राधाकान्त डिप्टी-कलेक्टर थे, स्वभावसे बहुत सज्जन और विनोदी । अतः उमा सम्पन्न भी थी और संसारकी दृष्टिमें सुखी भी; किन्तु उसके अन्तरमें एक विचित्र-सा अभाव और सूनापन छाता जा रहा था । उसे लगता जैसे उसका कुछ खो गया हो, जैसे वह अपने सारे सुख, अपने सारी प्रतिष्ठा और सारी सम्पन्नताको एक झीने काले परदेके बाहरसे देख रही हो जहाँ वह कुछ भी छू नहीं पाती, स्पष्ट देख नहीं पाती । कुमारके जन्मने इस काले परदेको छिन्न-भिन्न कर डाला और वह प्रसन्नतासे झूम उठी । नौकरी और चपरासियोंको नये कपड़े बँटे । अनाथालयके बच्चोंकी पेट-भर भोजन और मिठाइयाँ मिली । ननदके लिए जड़ाऊ लॉकेट और सास के लिए काश्मीरी साड़ी आयी । मोहल्लेके बच्चोंमें खिलौने और गुब्बारे लुटे । पार्टियाँ हुई और घरका आँगन आने-जानेवालोंकी चहल-पहलसे गूँज उठा । इतना सब-कुछ होते हुए भी उमा यही सोच रही थी कि उसके पास कुबेरका खजाना होता तो वह उसे भी मुक्त हाथोंसे कुमारपर न्योछावर करके लुटा देती ।

जब वह कुमारको हृदयसे लगाकर सोती तो संसारका बड़ेसे-बड़ा सुख भी उसे अपने सौभाग्यके सामने हेय लगता । अपने ममता-भरे प्यासे नेत्रोंसे वह धीरे-धीरे बढ़ते हुए बालकको उठते-बैठते, गिरते-पड़ते, चलते-फिरते, और मुसकराकर ‘माँ ? माँ ?’ पुकारते देखकर तृप्त हो जाती थी ।

कुमारको लेकर वह दिन-रात ऐसी व्यस्त और चिन्तित रहती जैसे कोई निर्धन अनन्त सम्पदा पाकर समझ न पा रहा हो कि उसे कहाँ रखे और कैसे सम्हाले। रोज दैनिक अखबारमे सबसे पहले वह यह देखती थी कि शहरमें कोई बीमारी तो नहीं फैली है। किसी रोगसे दो-एक व्यक्तियोंकी भी मृत्युका समाचार पढ़कर उसे आशका होने लगती कि कहीं उस रोगका आक्रमण उसके पुत्रपर भी न हो जाये। बेचारे बच्चेको सारा साल दवा खाते और सुइयाँ लगवाते ही बीतता था। बरसातमें मलेरियासे बचनेकी टिकियाँ, गरमीमें टाइफ़ॉइड और हैजेसे बचनेकी सुइयाँ, चेचकसे बचनेके लिए टीके, खाँसी-जुकामसे रक्षाके लिए दवा, और ऊपरसे स्वस्थ रहनेके लिए तरह-तरहके टॉनिक। इतने उपचारके बाद भी जब कभी कुमार उदास दिखायी देता या ठीकसे भोजन न करता तो उमाका हाथ अनायास ही उसके माथेपर पहुँच जाता और वह चौककर पूछती, “तबीयत तो ठीक है न ?”

जबतक नन्हा-सा कुमार गाड़ीमें घूमने जाने योग्य रहा तबतक वह आयाको घरसे निकलनेके पहले पचास बार समझा देती थी,

“देखो कहीं दूर मत ले जाना.....उसे अकेला मत छोड़ देना.....सड़कके किनारे-किनारे बायी तरफ़ चलना.....किसी अनजान आदमीको गोदमे न उठाने देना.....” और अन्तमें आयाके गाड़ी लेकर बाहर निकलते-निकलते अपने मनसे हारकर वह उससे कह देती, “बाहर कहाँ लेकर जाओगी, यही बगीचेमें टहलाओ !”

लेकिन कुमारके कुछ बड़े होते ही स्थिति बिलकुल बदल गयी। वह बाहर जानेके लिए मचलने लगा। चपरासीके साथ साइकिलपर बैठकर घूमना उसे विशेष रूपसे प्रिय था। जब कभी उसकी इच्छा बाहर जानेकी होती, वह पितासे आग्रह करता और राधाकान्त नौकर या चपरासीसे उसे घुमा लानेको कह देते। लेकिन बच्चेके वापस आने तक उमाका हृदय धक-धक करता रहता। वह दरवाजेके कई चक्कर काटती, बाहर झाँक

कर देखती और ज़रा-सी भी देर होते देख बार-बार पतिको उलाहना देते हुए कहती, “तुम्हारी तो जाने कैसी आदत है ! जब देखो तब नौकरोंके साथ बच्चेको बाहर भेज देते हो ! यह नहीं देखते कि ज़माना कितना खराब है । कोई उसे लेकर चल दे तब ?”

“अरे ऐसे कोई नहीं लेकर चल देता । जाने-पहचाने नौकर है । ऐसा अन्धेर होने लगे तब तो आदमीका चलना-फिरना मुश्किल हो जाये । किसी दिन मैं कचहरीसे लौटूँ तो देखूँ कि तुम्हे भी कोई उठा ले गया ।” राधा-कान्तने मुसकराकर कहा ।

“जाने भी दो, बूढ़े हो चले मगर हँसी-मजाक़की आदत नहीं छूटी ।” इस प्रकार बात हँसीमे टल जानेपर भी कुमारके लौटने तक उमा बिलकुल खोयी-खोयी-सी ही रहती ।

राधाकान्त जब भी कभी उमाको साथ लेकर किसी मित्र या सम्बन्धीसे मिलने जाते, कुमारको घरपर ही छोड़ जाते थे । गरमीमे कहते कि किसीके घर जाकर व्यर्थ परेशान होगा, घरमें आरामसे लॉनमे खेलेगा । जाड़ेमे सरदी लग जानेका बहाना रहता, और बरसातमे तो पानी बरसनेकी आशंका रहती ही है । गरज़ यह कि बच्चेको साथ लेकर हर जगह घूमना उन्हें पसन्द नहीं था । यूँ कुमारको वे अपने साथ पार्क ले जाते—बाज़ार ले जाते, सरकस ले जाते, या बच्चोंकी किसी पार्टीमे ले जाते, वह बात दूसरी थी । उमा भी पतिका स्वभाव जाननेके कारण इस विषयमे मौन ही रहती थी, किन्तु जब कि राधाकान्त और उनके मित्र ठहाके लगाते रहते उसे रह-रहकर कुमारका ध्यान आ जाता—वह मुझे याद कर रहा होगा ! उसके भोजनका समय हो गया, पता नहीं आयाने ठीकसे उसे खिलाया हो या न खिलाया हो ! कहीं गिर-गिरा न जाये ! आया तो नम्बरी आलसी है, चौकेमें बैठी-बैठी नौकरके साथ शर्प्पे लड़ा रही होगी और कुमार अकेला रो रहा होगा ! कहीं उसे घासमे खेलता छोड़कर न चली गयी हो साँप-बिच्छूका क्या ठिकाना कब निकल आयें ! पता नहीं कबतक

वापस चलेंगे.....कहीं आकर उठनेका तो नाम ही नहीं लेते।” सबको हैसते देखकर फ़र्ज-अदायगीके लिए वह भी हैस देती, बातचीतमे भी भाग लेती, लेकिन मन उसका कुमारमें ही उलझा रहता था।

इस प्रकार कुमार अकसर शामको अकेला ही आयाके साथ खेलता रहता। वह उसे नीली परीकी, सात राजकुमारों और उड़नेवाले घोड़ेकी, जादूकी अँगूठीकी और दुमकटी लोमड़ीकी कहानियाँ सुनाती। कुमार बड़े चावसे सुनता और अपने काठके घोड़ेपर बैठ-बैठा सोचता कि बड़ा होकर वह भी कहींका राजकुमार बनेगा और उड़नेवाले घोड़ेपर बैठकर नीली परीके देश जायेगा।

पास-पड़ोसके बच्चोंके साथ खेलनेके लिए उमा उसे जाने नहीं देती थी, क्योंकि पता नही दूसरे बच्चोंकी आदतें अच्छी हों या न हों। दूसरे, कब किसे किसी प्रकारका संक्रामक रोग हो जाये, कोई ठिकाना है? कुछ दिनों तक तो आस-पासके बच्चे स्वयं ही उसके घर खेलनेके लिए आ जाते थे, क्योंकि कौन किसके घर कितनी बार गया यह गिननेकी प्रथा बच्चोंमें नहीं है। किन्तु सम्भवतः बड़े लोग बच्चोंके भी आने-जानेका पूरा हिसाब रखते हैं, तभी तो अन्य पड़ोसियोने सोचा कि होंगे डिप्टी साहब वडे आदमी, लेकिन हम भी क्या उनसे किसी बातमें कम हैं! उनका लड़का औरोंके घर नहीं जाता-आता तो हमारे बच्चे भी उनके घर पैर नहीं रखेंगे! बस, कुमारके मित्रोंका आना-जाना धीरे-धीरे बन्द हो गया। वह ललचाकर सड़कपर खेलते हुए बच्चोंको देखता, उनकी किलकारियोंकी आवाज सुनता तो उसकी इच्छा होती कि उसके पास भी कहीं जादूकी अँगूठी या अलादीनका चिराग होता तो अपने घरको बच्चोंसे भर देता।

एक दिन राधाकान्तने उमासे पूछा,

“कुमार कितने सालका है?”

“सात मईसे छठा चल रहा है।”

“तब तो इसे जुलाईमें स्कूलमें भरती करा देना चाहिए।”

“बिल्कुल व्यर्थ है। बदली होगी तो फिर नाम कटवाना पड़ेगा। इससे तो अच्छा है कोई मास्टर रख दो, घर ही पर पढ़ा जाया करे।” दिन-भर अकेले रहनेकी कल्पनासे ही जैसे वह घबड़ा गयी।

“मास्टर रखनेसे काम नहीं चलेगा। तुम तो समझती नहीं कि बराबरके बच्चोंके साथ खेलना-कूदना और पढ़ना-लिखना बच्चोंके लिए कितना आवश्यक है। उन्हें हर काममें एक-दूसरेसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा मिलती है, उनका उत्साह बढ़ता है, स्फूर्ति आती है। घरमें पढ़ाकर क्या उसे बुद्ध बनाओगी?”

“अच्छा भरती ही कराना है तो तुम्हारी मरजी। मगर जरा मौसम अच्छा हो जाये तब भरती कराना, आजकल तो बहुत गरमी है।”

“मेरे विचारसे तो तुम उसे सिर्फ जाड़ेमें स्कूल भेजा करो, बाक़ी समय घरपर ही गोदमें लेकर बैठी रहा करो। मैं पूछता हूँ कि दुनियामें और भी तो इतने लोगोंके बच्चे पढ़ते हैं, उन्हें तो यह चिन्ता नहीं सताती। तुम ही क्यों यह सोच-सोचकर आधी हुई जा रही हो कि जुलाई में स्कूल जानेसे तुम्हारा फूल-सा लड़का कुम्हला जायेगा!” राधाकान्तने क्रुद्ध स्वरमें कहा।

उमा अपने मनकी बात कैसे बताती। सन्ताप और विवशता चुपचाप पीकर, “तो जैसा चाहो वैसा ही करो न, कोन मना करता है!” कहती हुई वह भीतर चली गयी।

जुलाईमें राधाकान्तने कुमारको कॉन्वेंटमें भरती करा दिया, आने-जानेके लिए बसका प्रबन्ध हो गया। उमाको दिन पहाड़-से लगने लगे, काटे न कटते। काम-काज तो उसे कुछ था ही नहीं, पढ़ने-लिखनेमें भी कोई विशेष रुचि न थी। जब कुमार घरमें रहता था तब तो दिन-भर... “बेटा धूपमें मत जाओ... पानीसे मत खेलो... फल खा लो... दूध पी लो...” यही करते बीत जाता था, अब वह बार-बार घड़ी देखती और सड़कपर

नज़र दौड़ाती हुई सोचती.....“बस तीन घण्टे और.....दो घण्टे और.....एक घण्टा और.....!”

पहले चार-छः दिन तो कुमार माँके साथ स्कूल गया और कक्षामे जाते समय खूब रोया । फिर धीरे-धीरे स्कूलमे लड़कोंके साथ मित्रता हो जानेपर वह उतना न रोता, फिर भी माँसे अलग होते समय उसकी आँखोंमें आँसू भर आते और वह उसके गलेमे अपनी नन्ही-नन्ही बाँहे डालकर कहता, “तुम्हारे बिना हमे बिलकुल अच्छा नही लगता माँ, हमे स्कूल मत भेजो ।” उमा भी कभी खाना न बना होनेका, कभी कुमारके लिए किताब-कापियाँ खरीदनेका बहाना बनाकर बसको लौटा देती, और कुछ देर बाद खुद उसे स्कूल पहुँचा आती । क्लासमे जाते समय कुमार हिचकियाँ भरता हुआ जाता, और घर लौटकर उमा रोती ।

दो-तीन महीनोमे कुमारका मन बच्चोके साथ खेलने और पढ़नेमे रम गया और वह बिना रोये-चिल्लाये नियमित रूपसे बससे आने-जाने लगा । वह सुबह साढ़े आठ बजे जाता और शामको चार बजे वापस आता । प्रतीक्षामे उमा तीन बजेसे ही बाहर बरामदेमे टहलने लगती ।

एक दिन कुमारकी प्रतीक्षामे बैठे-बैठे साढ़े-चार बज गये । उसका मन आशकासे काँप उठा : ये बसवाले भी अन्धोंकी तरह बिना देखे-भाले गाड़ी चलाते हैं, कही उलट-उलटा न दी हो.....!

पोने पाँच !

उसकी घबड़ाहट बढ़ती ही गयी : हो सकता है खेलता-खेलता वह सड़कपर आ गया हो.....या उसने बिजलीका नंगा तार छू लिया हो.....या वह ऊँचेसे गिर पड़ा हो.....या उसे स्कूलमे अचानक वैसा ही तेज़ बुखार चढ़ आया हो जैसा दो साल पहले चढ़ा था....!

ज्वरका स्मरण होते ही उसका रोम-रोम सिहर उठा । दो वर्ष पूर्वके वे कुछ घण्टे, उनका एक-एक पल, जैसे उसकी स्मृतिपर अमिट होकर रह गया था । उन दिनों नगरमे एक ऐसा भीषण ज्वर फैला था जिससे नन्हे-

नन्हे बच्चे बस कुछ घण्टोमें ही चल बसते थे। कभी-कभी तो डॉक्टरके घर तक पहुँचनेकी भी नौबत न आ पाती। हर तरफ़ ऐसा आतंक-सा छा गया था जैसे नगर-भरमें बच्चोंको पकड़ ले जानेके लिए लकड़सूँघे घूम रहे हों। पचासों बच्चे देखते-देखते इस भयंकर ज्वरके शिकार हो गये। व्याकुल उमाकी इच्छा होती कि अपने बेटेको लेकर वह किसी ऐसी जगह चली जाये जहाँ किसी प्रकारके संकटकी सम्भावना न हो : न रोग हों, न दुर्घटनाएँ। दिन-भरमें सैकड़ों बार वह पुत्रका माथा स्पर्श करके देखती; रातको सोते-सोते चौककर उठ बैठती और मसहरी हटाकर काँपते हाथोंसे उसकी नाड़ी देखती, फिर उसे चूम आँखें बन्द करके सन्तोषके साथ कहती, “ठीक है, अभी ठीक है। हे भगवान्, इसे यह अभागा ज्वर कभी न चढ़े !” लेकिन कभी-कभी जितनी ही किसी बातसे दूर रहनेकी चेष्टा करो उतने ही वेगसे वह सामने आ जाती है। एक दिन राधाकान्त दौरेपर गये हुए थे। इतवारकी शाम थी, बरसातके दिन। कुमार काठके घोड़ेपर बैठा टिक-टिक करता हुआ झूम रहा था। उमाने पढ़ते-पढ़ते कहानियोंकी पत्रिका मेजपर रखकर उसको गोदमें लेनेके लिए बाँहि फैलाते हुए कहा,

“आओ बेटा, अब कुछ खा-पी लो, नहीं तो ज़रा देरमें तुम भूखे ही सो जाओगे।”

“माथेमें दर्द हो रहा है माँ, हम खाना नहीं खायेंगे। तुम अपने पास लिटाकर कहानी सुना दो।”

उमा उसके हाथको स्पर्श करते ही काँप गयी।

“बताया क्यों नहीं रे पागल ! तेरा तो शरीर बिल्कुल जल रहा है ! अभी घण्टा-भर पहले तक तो अच्छा भला था, अचानक क्या हो गया ?” “टीकासिंह” “ओ टीकासिंह” “जाने कहाँ मर गया है ! टी” “का” “सि” “ह” “ओह ! उसे तो मैंने दूध लानेके लिए भेजा है” “कुमार ! बेटा तू आरामसे यहाँ लेट जा तो मैं बुखार नाप लूँ” “उफ़” “१०१ डिग्री ! मैं डॉक्टरको फ़ोन कर दूँ” “तू लेटा रह, बड़ा राजा बेटा है !” “हलो

“हलो……मैं श्रीमती राधाकान्त बोल रही हूँ……जी हाँ, डिप्टी साहबके घरसे……क्या कहा ? डॉक्टर साहब कहीं गये हुए हैं……कबतक वापस आयेंगे ?……आपको बिलकुल अन्दाज नहीं है ?……देखिए लौटते ही उनको यहाँ भेज दीजिएगा……पता ठीकसे याद है ?……जी हाँ, वही बँगला है……नमस्ते……देखिए, डॉक्टर साहबको फौरन भेज दीजिएगा……धन्यवाद ।”

“बेटा, ज़रा मुँह तो खोलो……हाँ, बस ठीक है……ऐसे ही लगाये रहो……१०२ डिग्री ! हे प्रभू, डॉक्टर न जाने कबतक आयेगा ?……क्या जाने वह रातमे देरसे लौटे ! तब ?……कुमार, बेटे कहानी सुनोगे ?……नहीं ?……लाओ, तुम्हारे पैर दबा दूँ……नहीं ?……माथा दबा दूँ ? एक घण्टा बीत गया……बेटा, ज़रा फिर तो मुँह खोलो……१०३ डिग्री !……हे भगवान्……हलो !……हलो !……अरे कोई ऑपरेटर मेरा नम्बर क्यों नहीं मिलाते !……हलो……हलो……हलो……हाय राम……सबके-सब कहाँ जाकर सो रहे हैं ? जी……२……३……४……८……डॉक्टर साहब नहीं लौटे ? अब मैं क्या करूँ !……जी ?……कुछ नहीं, आपसे नहीं कह रही थी ।”

“हलो !……हलो !……५……७……९……२……कौन साहब बोल रहे हैं ?……डॉक्टर गुप्ता ? मैं श्रीमती राधाकान्त बोल रही हूँ……आप फ़ौरन चले आइए……मेरे बच्चेको तेज़ बुखार चढ़ा है और एक-एक मिनिटपर बढ़ता जा रहा है……जी ? मकानका नम्बर……प्रताप मार्गपर बड़ा-सा पीले रंगका बँगला है……मैं आपका इन्तज़ार कर रही हूँ ।……”

डॉक्टरने सीनेपर स्टेथोस्कोप रखकर देखा, बुखार नापा, जीभ, गला और आँखें देखकर गम्भीर स्वरमें कहा, “देखिए……मैं अभी कुछ कह नहीं सकता कि बच्चेको कैसा बुखार है । वैसे एहतियातके लिए मैं पेनिसिलीनके इन्जेक्शन और ओरियोमाइसीनके कैप्स्यूल्स लेता आया हूँ, अभी वही दिये देता हूँ । ज़रा सतर्क रहिएगा……आजकलके दिन बहुत खराब हैं……सिरपर बराबर बर्फकी थैली रखिए……और यह दवा मँगवा लीजिए । बुखार १०४ डिग्री है । इससे ऊपर जाते ही मुझे फ़ोन कर दीजिएगा ।”

“माँ, उलटी आ रही है...अन्दरसे न जाने कैसा लगता है...सारा घर घूम रहा है...सिरमें बहुत दर्द है...नींद भी आ रही है...नींद...भी...आ...र...ही...है...”

बच्चेका चेहरा नीला-सा पड़ने लगा। उसकी आवाज़से लग रहा था जैसे वह नशेमें हो। धीरे-धीरे उसने आँखें बन्द कर ली। डॉक्टर घबड़ा-सा गया। उसने फिर बुखार नापा...१०५ डिग्री। चिन्तित होकर बोला, “बच्चेकी हालत खराब होती जा रही है। देखते-देखते बुखार १०५ डिग्री हो गया है और वह बेहोश-सा हुआ जा रहा है। मैं एक इन्जेक्शन ओर देकर देखता हूँ, फिर अस्पताल टेलिफोन करके एम्बुलेन्स बुलवा लेंगे।”

डॉक्टरने फिर इन्जेक्शन दिया। उमा-जैसी खड़ी थी वैसी ही खड़ी रही। उसका चेहरा सफ़ेद पड़ गया था और ऐसा लग रहा था मानो कुछ भी सोचने-समझनेकी शक्ति उसमें नहीं रह गयी थी। उसने एकटक कुमारको देखते हुए डॉक्टरसे पूछा,

“डॉक्टर साहब, क्या वही बुखार...?”

“शायद !... लो बेटा, दवा पी लो...हाँ हाँ, पानी पिला दीजिए... उससे कुछ नुक़सान नहीं होगा।”

“अब तो पन्द्रह मिनट हो गये डॉक्टर साहब, बुखार देखिएगा ?” ऐसा लगा जैसे किसी पत्थरकी मूर्तिके मुँहसे बहुत धीमी, काँपती हुई, थकी-सी आवाज़ आयी।

“हाँ...१०४ डिग्री ! भगवान्का शुक्र...एक खुराक दवा फिर दे दीजिए, मैं आधे घण्टे बाद एक बार फिर देख जाऊँगा...चिन्ता मत करिए मिसेज़ राधाकान्त...भगवान्ने चाहा तो बच्चा बच जायेगा...लक्षण अच्छे ही है...”

“उस बार वह बच गया था। लेकिन इस बार ?”

पाँच !!

हे प्रभू ! हे महावीर स्वामी ! मैं तुम्हें पाँच रुपयेका प्रसाद चढ़ाऊँगी,

साल-भर तक मंगलका व्रत करूँगी.....मेरे नन्हे-से लालको बचा लो !.....हो सकता है खेल-खेलमे किसी नटखट बच्चेने उसे धक्का दे दिया हो और कोई सवारी उसे कुचलती हुई निकल गयी हो.....सड़कपर खूनसे तर उसका बच्चा वैसा ही पड़ा हो !.....

सवा पाँच !!

हे भगवान् ! क्या होगा ?.....मैं स्कूल जाकर पूछती हूँ.....लेकिन अब शायद उसे कभी नहीं देख पाऊँगी.....चप्पल कहाँ गयी ?.....नहीं मिलती..... न सही ।

वह तेजीसे स्कूलकी तरफ़, जो घरसे थोड़ी ही दूर था, बढ़ी ।

“हज़ूर रिक़शा ?”

“ऐं !.....शायद किसीने कुछ पूछा.....पता नहीं क्या !.....अरे, यह तो ऐम्बुलेन्स आ रही है.....घरके पास ही तो रुक गयी.....”

उसे पसीना आ गया और मुँहसे हलकी-सी चीख निकल पड़ी । राह चलते लोग आश्चर्यसे उमाको देख रहे थे लेकिन उसे उस समय केवल ऐम्बुलेन्स ही दिखायी दे रही थी । उसे लग रहा था मानो सारी धरती ऐम्बुलेन्सके चारों तरफ़ चक्कर काट रही है और आसमान नीचे झुकता चला आ रहा है । उसने खम्भा थाम लिया ।

“अब ऐम्बुलेन्समे-से लोग स्ट्रेचरपर कुमारको लिटाकर मेरी तरफ़ बढ़ेंगे.....लेकिन मुझे पहचानेंगे कैसे ?.....नहीं.....शायद वे हमारा घर ढूँढ़ रहे हैं.....ड्राइवरने उतरकर पानवालेसे कुछ पूछा.....वे लोग हमारे बँगलेका ही पता पूछ रहे होंगे । अब क्या होगा ?.....शायद उन्हें घर नहीं मिला..... ऐम्बुलेन्स आगे बढ़ गयी.....लेकिन अभी फिर लौटेगी.....ज़रूर लौटेगी..... जिस ओर ऐम्बुलेन्स गयी थी उसी ओर वह फटी-फटी आँखोंसे देखती स्तब्ध खड़ी रह गयी ।

इतनेमे एक बस उसके पाससे निकली । उमाने चौंकर देखा कि पीछे एक अध्यापिकाके साथ अकेला कुमार बैठा था । कुमारने भी संयोगसे

माँको देख लिया और खिड़कीके बाहर हाथ हिलाता हुआ उत्साहके साथ चिल्लाया, “माँ ! आज हम सारा शहर घूमकर आ रहे हैं ।”

रोज सबसे पहले उतरनेवाला कुमार आज सबसे अन्तमे उतारा जा रहा था !

उमाके सफ़ेद चेहरेपर रक्त दौड़ने लगा । उसके जकड़े हुए हाथ-पाँव सहसा ढीले पड़ने लगे ।

“कहीं जायेंगी, हुजूर ?” उसी रिक्शेवालेने फिर पूछा ।

“हाँ, सामनेके चौराहे तक पहुँचा दो ।”

अब उमाको ध्यान आया कि राधाकान्तके घर लौटनेका समय हो गया है, कि उसके कपड़े बिलकुल गन्दे हैं, कि वह चप्पल तक नहीं पहने है, कि वह घरकी सारी चाबियाँ मेज़पर ही पड़ी छोड़ आयी है और घर मे सिर्फ़ कामचोर आया है और चोर नौकर !

नीम हकीम

नीलमकी बैठकमें उस समय अच्छी खासी भीड़ थी। पास-पड़ोसमें जिसने भी सुना कि वह आज दफ्तरसे लौटते समय सड़कपर बेहोश होकर गिर पड़ा था वही देखने चला आया। बूढ़े बिट्टन काकाको कचहरीमें कुछ देर हो गयी थी। घर लौटनेपर उसका हाल सुना तो जलपान छोड़कर सीधे वहाँ जा पहुँचे। फाटकपर ही मनोहरलाल मिल गये, वे भी उसे देखकर लौट रहे थे। उदासीको चेहरेपर भरसक झलकानेका प्रयास करते हुए सिर हिलाकर बोले,

“हालत अच्छी नहीं है। बताता है कि खूनकी कैं भी हुई थी। अब भी पूरी तरह होशमें नहीं लगता।”

“राम राम ! अभी उमर ही क्या है। शादी हुए साल-भर भी तो नहीं हुआ।” कहते हुए बिट्टन काकाने अपनी चाल तेज कर दी और द्वारपर पहुँचकर खाँसी-द्वारा अपने आगमनकी सूचना देते हुए पुकारा,

“नीलूकी बहू।”

“आइए काकाजी, प्रणाम ! इधर निकल आइए।” मंगलाने उदास चेहरे और भरी-भरी आँखोंसे उनका स्वागत किया। बिट्टन काकाका पास-पड़ोसमें बड़ा मान था। कहीं लड़ाई-झगड़ा हो तो बीच-बचाव वे करते थे, कोई बीमार पड़े तो डॉक्टरसे पहले उनकी राय ली जाती थी, किसी लड़कीकी सगाईकी समस्या हो तो लड़का उन्हींको खोजना पड़ता था, और किसीकी नौकरी लगवानी हो तो सिफ़ारिश करनेमें अगुआ वे ही रहते थे। उनके पहुँचते ही वहाँपर एकत्रित पड़ोसियोंमें सन्नाटा-सा छा गया और वे सब उत्सुकता-पूर्वक बिट्टन काकाकी ओर देखने लगे। उन्होने कुरसी रोगी की खाटके पास घसीटते हुए पूछा,

“कहो क्या हाल है ?”

“ठीक नहीं है काका—जी बहुत घबड़ा रहा है, चक्कर-चक्कर भी आ रहे हैं।”

बिटुन काकाने उसकी नाड़ी देखी, माथा छुआ, फिर गम्भीर होकर प्रश्न किया,

“तुम कब, कैसे और कहाँ गिर पड़े थे बेटा ? यहाँतक तुम्हे किसने पहुँचाया ?”

नीलमको उत्तर देनेका अवसर न देकर त्रिभुवननाथने स्टूल आगे खिसकाते हुए रहस्योद्घाटन करनेके भावसे कहा,

“मैं सब बताता हूँ काका। हुआ यह कि नीलू बाबू शामको दफ्तरसे वापस आ रहे थे। आपने तो देखा ही होगा कि उधरवाली सड़कपर शाम से ही कैसा सन्नाटा हो जाता है। वहीं कहीं ये बेचारे बेहोश होकर गिर पड़े और पता नहीं कितनी देर पड़े रहे होंगे। जब होश आया तो देखा कि घड़ी, पर्स, साइकिल सब गायब है। किसी तरह हिम्मत करके उठे और रिक्शा लेकर यहाँतक आये !...” फिर कुछ झुककर धीरेसे पूछा, “काका, यह मिरगीका दौरा तो नहीं था ?”

सबने सुना। कहा भी छुपानेकी गरजसे नहीं गया था। मिरगीके नाम से मंगलाका रोम-रोम सिहर उठा और नीलमका चेहरा पीला पड़ गया। काकाने अब डॉक्टरसे अधिक जासूसकी भूमिका अपनायी और रोगीसे प्रश्न किया,

“नीलू बेटा, तुम्हारे बाप-दादामे कभी किसीको मिरगीका दौरा आता था ?”

“जी नहीं। ऐसा तो कभी किसीके मुँहसे नहीं सुना। आता होता तो पिताजीने चर्चा जरूर की होती।”

“हूँ ! अच्छा बेहोशीके दौरानमें तुम्हारे मुँहसे झाग निकले हों या हाथ-पैरोंमें ऐंठन हुई हो—यह याद पड़ता है ?”

“पता नहीं काका। अच्छा-भला चला आ रहा था कि अचानक आँखों के आगे अँधेरा-सा छा गया। जब होश आया तो देखा कि मैं सड़क के किनारे पड़ा था। उस समय क्या हुआ यह तो नहीं मालूम, लेकिन हाथ-पैरोमें दर्द अबतक हो रहा है। लगता है सारा बदन टूटा जा रहा है और कमजोरी तो इतनी है कि बोलनेमें भी थकान लग रही है।”

बिट्टन काकाने गौरसे चेहरा देखा, जीभ देखी, होठ देखे : कही चोटके चिह्न न थे फिर भी त्रिभुवननाथकी ओर देखकर उन्होंने दोबारा गरदन हिला दी।

मिस्टर कपूरको बिट्टन काकाका यह चौधरीपन बिलकुल नहीं जँचा। वैसे भी दोनोंकी आपसमें पटती नहीं थी। मिस्टर कपूर उम्रमें छोटे होने पर भी डिप्टी-कलेक्टर होनेके कारण सबपर अपना सिक्का जमानेके चक्कर में रहते, और बिट्टन काकाको अपने अनुभवपर गर्व था। इस समय भी उनके गरदन हिलानेके ढंगसे चिढ़कर मिस्टर कपूर बोले,

“आपने यह कैसे जान लिया कि इन्हे मिरगीका ही दौरा पड़ा था ? उसमें तो रोगी भयकर रूपसे हाथ-पैर पटकता है और होठ या जीभ काट लेता है। इन्हे तो ऐसा कुछ नहीं हुआ।”

“आप उस समय देखने गये थे ?” बिट्टन काकाके माथेपर बल पड़ गये।

“नहीं, आप गये थे !” कपूर साहबने व्यंग्य किया।

“यह निचले होठके बाँधी ओर आप लाल-लाल रेखा देख रहे हैं ?”

“जी हाँ, देख रहा हूँ। लेकिन वह पानका रंग है, खून नहीं !”

“अब जनाब आप तो ठहरे डिप्टी साहब, इसलिए जो कहे सो ठीक है लेकिन हमें भी हाईकोर्टमें वकालत करते पच्चीस बरस हो गये, कोई धूपमें बाल नहीं सफेद किये हैं। था यह मिरगीका ही दौरा !”

बिट्टन काकाने अन्तिम निर्णय दे दिया। डिप्टी साहबकी तयोरियाँ चढ़ गयी, बोले,

“जनाब, रोगीके सामने मुझे कहना तो नहीं चाहिए लेकिन आप ऐसी बेतुकी बातें कर रहे हैं कि मुझे मजबूरन कहना पड़ रहा है कि यह साफ दिलके दौरके लक्षण हैं। मेरे चाचाजी भी एक बार बिलकुल इसी तरह गिर पड़े थे। डॉक्टरने बताया कि कॉरोनरी-थ्रॉम्बोसिस है। सँभलकर रहिए। तीन महीने खाटपर-से हिलने नहीं दिया गया। किसी तरह राम-राम करके ठीक हुए लेकिन साल-भरके अन्दर ही एक दिन सोते-सोते चल बसे! इसमें रोगी दुर्बल बहुत हो जाता है। आप नीलमजीका चेहरा देखिए, एकदम सफ़ेद है कि नहीं? इनसे पूछकर देख लीजिए कितनी कमजोरी महसूस कर रहे हैं!”

यह सब सुनकर मंगला बुरी तरह सिसकने लगी। नीलमका जी और भी घबड़ाया। सहमी हुई निराशापूर्ण दृष्टि पत्नीपर डालकर पूछी,

“डॉक्टर साहब आये नहीं अभी तक?”

“आते ही होंगे। टेलिफ़ोन किया था तब किसी मरीजको देखने गये हुए थे वापस आनेपर सीधे यही आवेंगे।” मंगलाका स्वर काँप रहा था। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह सब पड़ोसियोंको बाहर निकालकर पति को बाँहोंमे कसकर कहे, “मेरे रहते तुम एकदम सुरक्षित हो। अमंगलकी छाया भी तुमपर नहीं पड़ सकती!”

नीलमके मनमे कपूर साहबकी बात बार-बार चुभ रही थी। नयी नौकरी, नयी-नयी सलोनी विनम्र पत्नी, परदेशमे छूटे हुए माँ-बाप और भाई-बहन! मृत्युकी आशंकासे वह भयभीत हो उठा। कपूर साहबको लक्ष्य करके उसने कहा,

“इतनी कमजोरी लग रही है कि उठकर बैठनेमे सिर चकरा जाता है। क्या दिलके दौरके बाद ऐसा ही लगता है?”

“बेकारकी बातें कर रहे हो नीलू! दिलका दौरा होता तो पहलेसे कुछ पता लगता कि सीधे-सीधे बेहोश हो जाते? तुम्हारे दिलमे दर्द उठा था?” बिट्टन काका बिगड़े। वास्तवमें उनकी उपस्थितिमें नीलमका किसी

दूसरेसे परामर्श लेना उन्हें बहुत खटक रहा था ।

कपूर साहब भी चिढ़े । उन्हें लगा कि जो व्यक्ति पी० सी० एस० मे चुन लिया गया हो उसकी किसी भी क्षेत्रमे योग्यता सन्दिग्ध नहीं मानी जानी चाहिए । वह क्या रोगीको देखकर रोग नहीं पहचान सकते ? उन्होंने एक बार उपेक्षा-भरी दृष्टि बिट्टन काकापर डाली, फिर नीलमको समझाने लगे,

“भाई तुम जैसा ठीक समझो, करो । लेकिन यह न हो कि इधर-उधर की सलाहके चक्करमे पड़कर ठीकसे इलाज न करो । तुम फ़ौरन कारडियो-ग्राम करवाकर देख लेना—अकसर समयपर चूक जानेसे बादको पछताना पड़ता है ।” “अच्छा मैं चलता हूँ” “कल किसी समय फिर आऊंगा । ज़रूरत पड़े तो बुलवा भेजना । और हाँ, कहो तो दवा लानेके लिए किसी चपरासी को भेज दूँ ?”

“नही-नही, दवा आ जायेगी । आप चिन्ता न करें । ज़रूरत पड़ी तो कहलवा दूँगा । नमस्कार !” नीलूने लेटे-लेटे हाथ जोड़ दिये । दो-तीन पड़ोसी और भी बैठे-बैठे ऊब रहे थे और जानेका बहाना खोज रहे थे, वे भी मौका पाकर कपूर साहबके साथ हो लिये ।

वे लोग फाटकसे निकले ही थे कि एक महिला, जो मंगलाकी दूरके नातेसे चाची लगती थी, बड़े वेगसे चप्पल सटकाती हुई आयी और उसे गले लगाकर चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगी । सहानुभूति पाकर मंगलाके धैर्यका बाँध टूट गया और वह सिसकती हुई बोली,

“चाची—यह क्या—हो गया—”

बिट्टन काकाने टोकते हुए कहा, “यह क्या तमाशा है भई ! रोगीके पास बैठकर रोनेसे उसका जी छोटा होता है !”

चाचीने धूरकर उनकी ओर देखा और भतीजीसे पूछा, “यह बुढ़ऊ कौन है जो टर्-टर् कर रहा है ?”

मंगलाने झेंपकर जल्दीसे परिचय दिया । चाची खाटपर बैठकर मुँह

और आवाज़ बनाकर पूछने लगी,

“हाँ तो बिटिया, हुआ क्या ? मैंने तो जबसे सुना तभी से प्राण अटके थे । भागी चली आ रही हूँ । वैसे तो तुम जानो सामका बखत है, पचास काम पड़े थे । पर मैंने चटपट उलटा-सीधा खाना बनाके बच्चोंके लिए धर दिया और चली आयी । तुम्हारे चाचाजीने कहा कि चाहे खुसीमें न जाये पर हारी-बिमारीमे जरूर जाये । इस बखत न गयी तो बात रह जायेगी कि हमारे दुखमे चाची सरीक नहीं हुई । क्या तबीयत खराब है इसकी ?”

“बेहोश हो गये थे । दफ़्तरसे लौट रहे थे……”

“अच्छा ! किस जगह ?” चाचीने बात काटकर पूछा, “कबरिस्तानके पास तो नहीं ? दफ़्तर तो इसका उधर ही है न ?”

“हाँ, वहाँसे लगभग पचास-साठ गज आगे,” नीलमने उत्तर दिया ।

“तो फिर बेटा देरी मत करो । यह अलाय-बलायका चक्कर है बुरा ! तुम जानो कि एक बार इस फेरमे पड़े तो ज़िन्दगी-भर परेशान रहोगे । और अगर कोई बुरी सय है तो जानको खतरा समझो । मेरे भाईको ऐसा ही हो गया था, मगर वह अँगरेजी पढ़ा-लिखा था सो बोला कि बहन हमे इस सबमे बिस्वास नहीं है । सो भैया वैसा ही उस बेचारेको भुगतना पड़ा । तीन साल तक खाटपर पड़ा रहा । अँगरेजी डाकदर आवें और दुनिया-भरके रोग गिना जायें, मगर कोई रोग हो तब तो ठीक हो । झूठ-मूठ उसे डरा दिया कि पीलिया हो गया है । अन्धे यह न देख सके कि परेतने सारा खून चूस लिया था तो पीला न पड़ता क्या लाल पड़ता ! आखिर एक दिन उसके सोतेमे मैंने बहूसे सलाह करके एक सयानेको दिखाया । छै महीने बराबर दान-पुन्न और जाप कराया । तब जाके बला टली । तुम कहो तो उन्हीं साई बाबाको बुलवा लूँ । भगवान्ने चाहा तो खड़े-खड़े ठीक कर लेंगे !”

मंगलाने अनिश्चयके भावसे एक बार पतिकी ओर, फिर चाचीकी

ओर देखा,

“अभी डॉक्टर साहब आते होंगे । देखिए क्या बताते हैं !”

“जैसी तुम्हारी मरजी,” चाचीने उदासीनताका भाव जताया ।

इतनेमें बाहर एक कार आकर रुकी । काका लपककर गये और डॉक्टर साहबका बैग थामकर उन्हें भीतर लिवा लाये । मंगलाने जल्दीसे गद्दीवाली कुर्सी खाटके सामने रख दी । डॉक्टर साहबने सारा हाल सुनने के बाद रक्तचाप देखा, ज्वर नापा और सीने तथा पीठकी स्टेथस्कोपसे जाँच की । सब कुछ नॉर्मल था ।

“डॉक्टर साहब, मेरे विचारसे इन्हें मिरगी....”

“आप इनके पिताजी हैं ?”

“जी नहीं, पड़ोसी हूँ ।”

“तो अगर आप आज्ञा दें तो मैं जाँच करके खुद ही तय कर लूँ कि बेहोशीका क्या कारण था ?”

“ज़रूर ज़रूर ! मैं तो आपकी मदद करनेके लिए सलाह-भर दे रहा था,” काकाने झेंपकर कहा ।

“बेहोश होनेसे पहले कहीं दर्द या कुछ परेशानी तो नहीं जान पड़ी ?”

“जी नहीं ।”

“इससे पूर्व भी कभी इस तरह मूर्छा आयी थी ?”

“कभी नहीं डॉक्टर साहब !”

“तुम्हारे पिताजीको कभी ऐसा हुआ है ?”

“जी नहीं । डॉक्टर साहब, क्या आपके ख्यालसे यह मिरगीका दौरा हो सकता है ?”

“कौन मूर्ख कहता है ? इस तरहके दोरे कभी इस उम्रसे शुरू नहीं होते । बेकारकी बातें सोचकर दिमाग़ खराब मत करो !”

“एक सज्जन कह रहे थे कि दिल....”

“फिर वही बात ! तुम्हारा दिल तो ठीक-ठिकाने काम कर रहा है,

मुझे लगता है कि गड़बड़ीका केन्द्र तुम्हारा दिमाग ही है । उसीकी मरम्मत करवानी पड़ेगी !”

डाक्टर साहब मुसकराकर बोले,

“और कोई चिन्ताकी बात नहीं है । इतनी गरमीमें उमससे या वायु-विकारसे भी ऐसा हो जाना सम्भव है !”

“फ़िकरकी सचमुच कोई बात नहीं है डॉक्टर साहब ?” मंगलाको सहसा विश्वास नहीं हुआ ।

“बिल्कुल नहीं । और हाँ—नीलू, तुम पान खाते हो ?”

“जी हाँ, कभी-कभी !”

“तम्बाकू भी ?”

“जी नहीं, सिर्फ पान ।”

“उस समय तो नहीं खाया था ?”

“जी खाया तो था । बल्कि यह कहिए कि मुँहमें पान दबाकर कुछ ही दूर जा पाया था कि गिर पड़ा ।”

“सुपाड़ी तो नहीं अटकी थी ?”

“जी नहीं, ऐसा तो नहीं लगा ।”

“हूँ ! अच्छा मैं नुस्खा लिखे देता हूँ । यह दवा दो-तीन दिन तक पी ही लो । इसके अलावा खूब खाओ-पियो, घूमो और प्रसन्न रहो—बस !” कहकर डॉक्टर मेहराने नुस्खा लिखकर मंगलाको दे दिया और नीलमको एक बार फिर प्रसन्न रहनेकी सलाह देकर वे चले गये ।

तभी दिनेशनन्दनने बाहरसे पुकारा,

“नीलू—मंगला भाभी !”

पुकारते-पुकारते वह भीतर चला आया और आश्चर्यचकित स्वरमें बोला,

“बाहर डॉक्टर साहबकी मोटर देखकर मैं डरा कि भाभी बीमार हैं, लेकिन तुम्हें क्या हुआ ? अभी घण्टा-भर पहले दफ़्तरसे लौटते समय मिले थे तब तो भले-चंगे थे !”

“बस, तुम लोगोसे बातें करनेके बाद मैं शर्मासे पान लेकर चला ही था कि बेहोश होकर गिर पड़ा। साइकिल, घड़ी और पर्स तो कोई लेकर चम्पत हो ही गया, तबीयत खराब हुई सो घातेमे। कोई कहता है मिरगी का दौरा था तो कोई कहता है दिलका। वैसे डॉक्टर तो यही बता गये हैं कि घबड़ानेकी बात नहीं है, मगर हो सकता है ढाढ़स बँधानेके लिए ऐसा कह गये हों।”

“डॉक्टर समझेगा क्या ! कोई रोग हो तब तो बताये। साफ़ लग रहा है कि किसी अलाय-बलायका चक्कर है। तुम न मानो तो भई दूसरी बात है। जबतक जी चाहे इलाज करते रहो और रुपया बहाते रहो। उससे कोई फ़ायदा तो होनेसे रहा,” मंगलाकी चाचीने अपना मत प्रकट करते हुए उलाहना दिया।

“लेकिन यह बताओ कि शर्माकी गिलौरियाँ तुमसे खायी कैसे गयी ? उनमे तो इतना तेज तम्बाकू रहता है कि मेरे जैसे पुराने खानेवालोंका भी दिमाग चकरा जाता है ?” दिनेशने पूछा।

“भई यह तो मुझसे किसीने कहा नहीं। शर्मा भी बातोमे इतना मस्त था कि उसने सिर्फ पनडब्बा सबके सामने बढ़ा दिया और मैंने भी इतमी-नानसे दो बीडे उठाकर मुँहमे रख लिये। उस समय मुझे कडबे-से ज़रूर लगे, लेकिन मैंने सोचा कि चार क़दम हटकर थूक दूँगा। ज़रूर तम्बाकूकी वजहसे ही चक्कर आया होगा।” नीलमने उठकर बैठते हुए उत्साहपूर्वक कहा।

“और नहीं तो क्या ! बेकार इतने परेशान हो रहे थे। यह तो कहो कि घरमे आजकल अकेले होनेकी वजहसे मैंने सोचा कि कुछ देर गपशप रहेगी, इसीसे चला आया था। खैर, इतनी जल्दी रोग पकड़ लेनेके लिए पहले तो फ़्रीस मेरे हवाले करो और फिर मंगला भाभी आप जल्दीसे मिठाईका प्रबन्ध कीजिए। अब तो दावत खाकर ही जाऊँगा।”



सम्पदा लुट गयी

“कुमुद ! एक बात बताती हूँ, किसीसे कहियो मत ! तुझे मेरी कसम है !”

“क्या ?”

कृष्णाने इधर-उधर देखकर कुमुदके कानमें धीरेसे कहा, “बुढ़ियाके पास बहुत धन है।”

“सच ?” कुमुदकी आँखें आश्चर्यसे फैल गयी। मुँह खुलाका-खुला रह गया।

“और नहीं तो क्या झूठ ! मैंने अपनी आँखोंसे देखा है।”

कुमुदने कृष्णाके पास खिसकते हुए आग्रह-भरे स्वरमें पूछा, “पूरी बात बताओ, जीजी ! कैसे देखा, कब देखा, क्या देखा ?”

“सब बताती हूँ। आज सबेरे जब मैंने उनसे पूछा, “चाचीजी, तबीयत कैसी है ?” तो बोलीं, “आज तो कुछ हलकी लग रही है, बहू ! ला खूँटी परसे धोती और सलूका उठा दे, तो बदल लूँ।”

“बाहरके सब कपड़े तो धोबी ले गया, लाइए आपके सन्दूकमे-से निकाल दूँ,” मैंने कहा।

“अरे, तेरी कोई फटी-पुरानी धोती धुली हुई पड़ी हो तो वही दे दे, सन्दूक-अन्दूक खोलनेमें बेकार तकलीफ़ होगी,” कहते-कहते उन्होंने तकियेके नीचेसे अपना चाभियोंका गुच्छा हाथमे ले लिया। मैं तो उनकी नस-नस पहचानती हूँ, झट बोली, “अरे नहीं चाची, तकलीफ़ क्या होगी, झटपट निकालकर दिये देती हूँ।”

इसपर फ़ौरन, बहाना बनाती हुई कहने लगीं, “अच्छा अभी रहने दे। उठनेकी हिम्मत नहीं हो रही है। फिर देखा जायेगा।”

“मैं दिखानेको तो बाहर निकल आयी मगर छुपकर दरारमे-से देखती रही कि उन्होंने एक बार चौकन्नी होकर चारों तरफ देखा, फिर फ़ौरन कपड़े निकालकर सन्दूकमे ताला लगा दिया।”

“बुढ़िया मरकर नागिन बनेगी, नागिन !”

“और क्या ! ऐसे लोग कभी अच्छी मौत थोड़े ही मरते हैं। यह मनाओ कि अशोकके विएनासे लौटनेके बाद मरे, नहीं तो इसी कोठरीमे चुडैल होकर बस जायेगी।”

“वाह रे जमाना ! खाना-पीना, रहना-बसना सब हमारे घर और धन सौपेगी भानजेको !”

“अरे, सिर्फ़ खाना-पीना ही होता तब भी गनीमत थी; देखती नहीं हो कि दोनो भाई उनपर कैसे प्राण देते हैं ! जब देखो तब ‘चाची, चाची !’ आजकल इतना तो कोई अपनी माँको भी नहीं मानता।”

“सच पूछो जीजी, तो मुझे तो शक है कि अशोकको विएना भेजनेमे ‘इन लोगो’का हाथ जरूर था। भला गवर्नमेण्टने क्या पूरा खर्चा दे दिया होगा ?”

“अरे नहीं ! तुम ठीक कह रही हो। ‘ये लोग’ छुपे-छुपे खूब मदद करते होंगे। घरमे बताते नहीं हैं.....”

इतनेमे सीढ़ीपर जूतोकी आहट पाकर दोनो चुप हो गयीं।

मनमोहन और जगमोहन दोनोंकी कपड़ेकी पुश्तैनी दूकान थी। दूकानके ऊपर ही रहनेके लिए बड़ा-सा मकान था। दोपहरके समय काम-काज मुनीमपर छोड़कर दोनों भाई भोजनके लिए ऊपर आ जाते थे और फिर शामको तीन-चार बजे वापस जाते थे। क़मीजें उतारकर और हाथ-पैर धोकर दोनों चौकेमे पटरोपर बैठ गये। तभी मनमोहनने पत्नीसे पूछा, “चाचीका बुखार उतरा ?” कृष्णाने दबी हुई मुसकानके साथ कुमुदकी ओर देखा, मानो कह रही हो “देखा ! हर समय चाची !” फिर थालियाँ लगाती हुई धीरेसे बोली,

“हाँ, सवेरे तो नार्मल था ।”

“खानेको क्या दिया ?”

“दूध दिया था । खिचड़ीके लिए मैंने पूछा कि रेशमी धोती पहनकर दूरसे छोड़ दूँ, लेकिन उन्होंने मना कर दिया ।”

“अच्छा किया । आज न खानेसे तबीयत ठीक रहेगी । डॉक्टर तो बुखारमे भी खाना खिलाते रहनेको कहता था……नयी नयी बातें ! खाना दे देते तो फौरन टाइफाइड हो जाता ।”

सहसा जैसे कोई भूली हुई बात याद करते हुए मनमोहनने कहा,

“आज अशोककी चिट्ठी आयी है । अच्छी तरह है । चाचीको बता देना ।”

“अच्छा ! क्या लिखा है उसने ?”

“कोई खास बात नहीं ।……यही सब लिखा है कि आजकल काम बहुत ज्यादा है……और बड़े डॉक्टर उसके कामसे बहुत प्रसन्न है……और हाँ, चाचीके लिए लिखा है कि उनका बुखार न उतरा हो तो सिविल-सर्जनको दिखा देना चाहिए ।”

कुमुदने घूँघट तिरछा करके कृष्णाकी ओर देखा !

“इस दुनियामे किसीके कियेका कुछ यश नहीं है ! हम लोग क्या अपनी ओरसे कुछ उठा रखते !” कृष्णाने रोटियोंमे घी लगाकर थालियों मे रखते हुए कहा ।

“हाँ, उसे ऐसा नहीं लिखना चाहिए था । दूसरेके पैसेपर तो सभी ममता जता लेते हैं; इलाजके लिए हजार-पाँच-सौ भेज देता तो हम भी जानते ।” जगमोहनने दालकी कटोरी आगे बढ़ा दी ।

“इसके लिए गज-भरका कलेजा चाहिए । हम लोग ही आगेसे आगे दूसरोंकी भलाई करते फिरते हैं, और सब तो दूरसे ही भले बने हुए हैं ।” मनमोहनने अपनी दानवीरताकी सराहना करते हुए कहा !

“चाची जब दाने-दानेसे मोहताज थीं तो किसीने मदद कर न दी ?

अशोक भी तो डॉक्टरी पढ चुका था । आगे पढ़नेके लिए विना न जाता तो गवर्नमेण्ट जबरदस्ती थोड़े ही भेज देती ?”

“और क्या ? तब तो वह बड़ी डींग हाँक रहा था कि “मैं तो केवल जनहितके लिए विना पढ़ने जा रहा हूँ !....हुँह ! जनहित ! उस समय दिखायी तो लम्बी-चौड़ी रकम दे रही होगी !....नहीं भाभी ! अब एक भी नहीं लूँगा । बहुत खा चुका । रायता बड़ा बढ़िया बना है !” जगमोहन ने कृष्णाको रोटी थालीकी तरफ बढ़ाते हुए देखकर कहा ।

“बस, एक और ले लो !”

“नहीं, अब बिलकुल नहीं ।”

उन दोनोंके उठ जानेके बाद कृष्णा और कुमुद भोजन करने बैठी । दोनों सम्पन्न घरकी बहुएँ थीं । कृष्णा तेईस-चौबीस सालकी साँवली किन्तु आकर्षक युवती थी; दो लड़कोंकी माँ । कुमुद गोरी थी किन्तु न जाने क्यों उसे देखकर ताशके पत्तोंमें बनी पानकी बेगमका ध्यान आ जाता था । सोलह-सत्रह वर्षकी थी । अभी विवाहको केवल एक वर्ष हुआ था । आपसमें लड़नेका कोई कारण न था । खाना महाराजिन बनाती थी, घरके कामके लिए नौकर था और ऊपरकी देख-रेख सब चाचीके ज़िम्मे थी । बच्चे अभी एकके ही थे अतः चाचा-चाचीके भी बहुत दुलारे थे । भाइयो-की भी आपसमें बहुत पटती थी क्योंकि दोनोंमें न कोई आवारा था, न कोई आदर्शवादी । रुपया कमाना उनके जीवनका ध्येय था और सुख-सुविधाके साधन जुटाना उनकी दिनचर्या ! नौकर-चाकरोंके कारण घरमें जो कुछ थोड़ी-बहुत परेशानी थी वह भी चाचीके आ जानेसे दूर हो गयी थी । सुबह दही मथकर मक्खन निकालनेसे लेकर रातको नौकरोके चले जानेपर दरवाज़ा बन्द करने तकका भार चाचीपर ही था । चाचीने कभी इस घरकी पराया नहीं माना । भतीजोंसे उन्हें बहुत स्नेह था, बहुओसे भी कभी कोई शिकायत उन्हें नहीं हुई । लेकिन जब कभी दोनों बहुएँ उनके सामने ही उनकी किसी बातकी हँसी उड़ातीं या अशोकको लेकर

कुछ ताना देतीं तो उनका मन न जाने कैसा उचाट-सा हो जाता और उन्हें लगता कि अपने खूनकी बात ही दूसरी होती है ।

एक समय था जब चाची चारको खिलाकर खुद खाती थीं किन्तु आज वह स्वयं दूसरोंकी आश्रिता है । बुढापेकी लम्बी-लम्बी रातोमे जब उन्हें अपने पति या अपने घरका ध्यान हो आता तो उनके मनमें एक कसक-सी उठती और वे उठकर तकियेके सहारे बैठ जातीं । उनके पति डाक बाबू थे । आमदनी अच्छी थी लेकिन रुपया बचाकर रखनेके वे कायल न थे । खुले हाथों खर्च करते । अगर कभी चाची कुछ कहती तो हँसकर जवाब दे देते, “अरी पगली, यही दिया-लिया तो साथ जायेगा ! और फिर तुझे किस बातकी चिन्ता है ? तेरे लिए तो मैं हूँ ही, जब किसी बातकी तकलीफ हो तो कहियो ।” चाचीने अपनी निर्धन छोटी बहनके सबसे छोटे दो बच्चो अशोक और इलाको अपने पास रख लिया था । कहते है कि जन्म देनेसे पालनेकी ममता अधिक होती है । धीरे-धीरे चाचीको लगने लगा कि उनका उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना सब कुछ उन दो नन्हे शिशुओंके लिए है । बच्चे बाहरवालोकी देखा-देखी उन्हें ‘ताती’ पुकारते और वे गद्गद होकर उन्हें हृदयसे लगा लेतीं ।

चाची खुद तो आ-ई भी नहीं पढी थी किन्तु बच्चोंको पढ़ानेका उन्हें इतना ध्यान था कि जब इला तीन वर्षकी थी और अशोक पाँचका तभीसे दोनोंको पढ़ानेके लिए मास्टर रख दिया था । अशोकने जिस दिन सर्वप्रथम रहकर दसवी कक्षा पास की, उन्होंने बिरादरी-भरमें लड्डू बँटवाये । दो दिन तक उनके घरमे मोहल्लेकी बहू-बेटियोंका नाच-गाना होता रहा । रातमे दो-दो बजे तक चाची और चाचा अशोकके बारेमे बातें करते रहते : कभी उसकी नौकरीकी और कभी आगे पढ़नेकी । कभी-कभी उसके लिए बहू खोजनेकी योजना भी बनती और बिरादरीकी सब नन्ही-नन्ही लड़कियों पर इस दृष्टिसे विचार करते हुए वे दोनों इस निष्कर्षपर पहुँचते कि उनके अशोकके योग्य कोई लड़की नहीं है । किन्तु कोई और भी अपनी योजना

बनाये बैठा था और उसके अनुसार चाचाको अपनी सारी योजनाएँ अधूरी छोड़कर चले जाना पड़ा ।

चाचीपर वज्रपात हुआ किन्तु जब चार सुकोमल बाँहोंने उन्हे स्नेहसे दोनों ओरसे भीच लिया तो धीरे-धीरे उनके आँसू सूख गये । उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी । एक मकान था जिसमे वह रह रही थी; कुछ गहने थे और आठ-नौ सौ रुपये । उन्होंने अशोकसे इस बारेमे कुछ नहीं कहा । डॉक्टरों पढ़नेके लिए जब वह चुन लिया गया तो उसने चिन्तित होकर पूछा,

“लेकिन चाची ! इतनी फीस हम लोग कैसे दे सकेंगे ?”

चाचीने धोतीके पल्लेसे आँखें पोछते हुए कहा, “सब भगवान् देगा । तू पढ़ ।”

दो वर्षकी पढ़ाईमे जब एक-एक करके सब गहने बिक गये तो चाचीने अपने भतीजोंके पास जाकर मकान बेचनेकी इच्छा प्रकट की । उन्होंने सोचा कि मकान भी घरका घर ही मे रहेगा और इज्जत भी बनी रहेगी ।

सोलह हजारका मकान आठ हजारमे बिक गया । लिखा-पढ़ी हो गयी और किसीको कानोकान खबर तक न हुई । चाचीने सिर्फ एक शर्त रखी थी कि अशोकके डॉक्टरों पास करने तक वे बिना किराया दिये उस मकानमे रहती रहेगी । उस समय तक इला सोलह वर्षकी हो चुकी थी । उसके विवाहकी चिन्तामे चाचीको रातों नीद न आती थी । लेकिन जहाँ कही वे अच्छा लडका देखकर बात चलातीं, दहेजका प्रश्न सामने आता और बात टूट जाती । अन्तमे पड़ोसके एक सजातीय परिवारने इलाके रूप-गुण और शीलपर मुग्ध होकर बिना दहेजकी शर्तें बाँधे उसे अपनी पुत्रवधू बनाना स्वीकार कर लिया । इलाके सास-ससुरका दावा था कि दया आ जानेके कारण ही उन्होंने उस निरीह कन्याको अपना लिया, लेकिन मोहल्ले के लोगोंने दबी जुबान यही कहा कि बेटेकी आत्म-हत्याकी धमकीसे डरकर ही वे इतनी आर्थिक हानि झेल गये । खैर, कारण कुछ भी रहा हो, अब

इला सुखी थी और यह देख-देखकर चाचीका हृदय भी शीतल था ।

अशोक डॉक्टरकी परीक्षामे भी सर्व-प्रथम रहा । उसने जब आकर चाचीके पाँव छूकर यह शुभ-समाचार सुनाया तो उन्होंने उसे गलेसे लगाते हुए कहा,

“भगवान् करे तू जुग-जुग जिये, मेरे बेटे ! बस अब एक काम मेरे मनका कर दे तो मैं निश्चित हो जाऊँ....हीरालालजी कबसे पीछे पड़े हैं और लड़की भी उनकी ऐसी है कि हाथ धरे मैली होय ..”

“लेकिन सुनो तो चाची ! सरकारकी तरफसे जो थोड़े-से लोग आगे डॉक्टर पढ़नेके लिए विएना भेजे जानेके लिए चुने गये हैं उनमे मैं भी हूँ ।”

“तू कहाँ भेजा जायेगा ? क्यों ?” चाचीने आश्चर्यके साथ पूछा ।

“विलायत जाऊँगा आगे पढ़नेके लिए ।”

“अब क्या पढ़ेगा, इतने साल तो डॉक्टर पढ़ चुका ?”

“अभी तो मैंने कुछ भी नहीं पढ़ा चाची ! विदेशसे लौटूँगा तब देखना ...मैं बहुत विद्वान् होकर लौटूँगा...सब लोग आ-आकर तुमसे मेरी प्रशंसा करेंगे तब तुम्हारा माथा कितना ऊँचा होगा ! है न ?” अशोकने समझाते हुए कहा ।

“तू मेरे पास रह बेटा, माथेको नीचा ही रहने दे !” चाचीने व्यथित होकर कहा । किन्तु जब अशोकने उन्हें बहुत समझाया तो उसका उत्साह देखकर बुझे हुए मनसे चाचीने स्वीकृति दे दी ।

“लेकिन जानेसे पहले मैं तुम्हारा ठीकसे प्रबन्ध कर देना चाहता हूँ । अगर हम आधे मकानमे किरायेदार रख लें तो कैसा रहेगा ? तुम अकेली भी न रहोगी और तुम्हे कुछ रुपया भी बराबर मिलता रहेगा ।”

“वह सब मैं कर लूँगी । मैंने खुद इस बारेमे सोचा था और इस बारे मे मनमोहनसे बात भी की थी ।”

“कब ?”

“कुछ ही दिन पहले । मनमोहनके कोई सम्बन्धी यहाँ आकर रहेगे ।”

“अच्छा तो मैं आज ही उनसे मिलकर बात पक्की कर लूँगा।”

“नहीं, नहीं, तुझे जानेकी कोई ज़रूरत नहीं है। वे लोग बुरा मानेंगे कि बड़ोंकी बातके बीचमें दखल दे रहा है। मैं खुद सब ठीक कर लूँगी।” चाचीने घबराकर कहा, “और जबतक तू मेरे पास है, मैं किसीको यहाँ नहीं रहने दूँगी।”

“अच्छा,” अशोकने हँसकर कहा, “जैसी तुम्हारी इच्छा ! लेकिन कुछ रूप्योंका तो प्रबन्ध करना ही होगा।”

“क्यों ?”

“पीछे तुम्हें ज़रूरत पड़ेगी तो क्या करोगी ?”

“रूप्योंका मैं क्या करूँगी ? जो कुछ किराया मिल जायेगा वही मेरे लिए काफी होगा...और अभी तो गहने पड़े हैं; ज़रूरत पड़नेपर बेच दूँगी।”

अशोकने चाचीकी बात मानकर फिर इस विषयपर अधिक नहीं सोचा। उसके बिना पहुँचते ही चाचीने लिखवा दिया कि अकेलेपनसे ऊबकर वे मनमोहनके घरमें रह रही हैं और अशोकके वापस आनेके समय तक वही रहेगी।

धीरे-धीरे अशोकको गये दो वर्ष हो गये, लेकिन अभी लाख पूछनेपर भी लौटनेकी बात वह नहीं लिखता। जब कभी उसका पत्र आनेमें देर हो जाती तो चाची रातमें सबके सो जानेके बाद मुँहमें कपड़ा ठूसकर जो भर-कर रोती और मन-ही-मन सोचती कि चाहे उनका अशोक डॉक्टर न होकर कम्पाउण्डर ही होता मगर पास तो रहता ! लेकिन इतनी दूर रहकर वह दुनियाका सबसे बड़ा डॉक्टर भी हो जाये तो क्या !

उस दिन भी चाची उसीके बारेमें सोच रही थीं जब कृष्णाने आकर कहा, “चाची, अशोककी चिट्ठी आयी है, वह राजी-खुशी है।”

“अच्छा ! उसकी चिट्ठी आयी है ? क्या लिखा है ?”

चाचीकी इच्छा हुई कि कोई उसे अशोकके पत्रका एक-एक शब्द सुना देता।

“कोई खास बात नहीं लिखी है, बस अच्छी तरह है। कमा-खा रहा है।”

चाचीको उतनेसे सन्तोष नहीं हुआ, “बस यही लिखा है?”

“हाँ, और यह भी लिखा था कि सब डॉक्टर लोग उसके कामसे बहुत खुश है।”

“सो तो होगा ही, बड़ा मेहनती लड़का है। पढ़ाईके सामने दिनको दिन और रातको रात नहीं समझता। भगवान् करे वह जल्दीसे घर लौट आये।” महराजिनसे कह दे बहू कि अँगोठी, पतीली, मसाला और पानी सब यहाँ घर जाये” ला जरा-सी खिचड़ी छोड़कर खा ही लूँ।” चाचीने हर्षातिरेकमे जैसे स्वयं अपनेको दावत दे डालनेका निश्चय करते हुए कहा। डॉक्टरकी दवाने रोग दूर कर दिया था; दुर्बलता, अशोकके पत्रने शक्तिमे बदल दी।

कुछ दिन बाद एक दिन चाची धूपमें बैठी चावल बीनकर रख रही थीं। पास ही कृष्णा लेटी थी और कुमुद उसके लड़केका स्वेटर बिन रही थी। वही खेलते हुए कृष्णाके दोनों लड़के चाचीके बीने हुए चावल बिखेर रहे थे।

“ना बेटा, ना, चावल मत फेंको।”

बच्चे नहीं माने। चाचीने डाँटकर कहा, “सुन नहीं रहे हो, अभी उठकर मारेंगे तो सीधे हो जाओगे।”

कृष्णाको बुरा लगा। बच्चोंको डाँटकर वहाँसे भगाती हुई बोली, “जाओ उधर खेलो। इधर आये तो टाँगें तोड़ दूँगी” मरे सुनते ही नहीं है!”

चाचीके मनको ठेस लगी।

“गाली क्यों देती हो बहू! जाने किस बख्तकी बात कैसी लग जाये!”

कृष्णाने सुनी अनसुनी करते हुए कुमुदसे पूछा,

“कितना बिन गया? गला घटा रही हो?”

“जी।”

“अच्छा कुमुद ! ये जो कुंवारे लड़के विलायत जाते हैं, बिना मेम लिये तो न लौटते होंगे ?” कृष्णाने चाचीपर वार साधा ।

“और जाते ही किस लिए हैं ?” कुमुदने समर्थन किया ।

“तब तो अपना अशोक भी मेम लेकर लौटेगा ।” कृष्णाने मुसकराकर कहा ।

“बाप रे, वह गिटिर-पिटिर बोलेगी और हम लोग उसका मुँह देखेंगे ! और चाचीजी क्या करेंगी जब वह पैर छूनेके बदले हाथ बढ़ाकर कहेगी गुडमॉर्निंग !” दोनोंने क़हक़हा लगाया ।

चाचीने आहत होकर कहा, “मेरा अशोक ऐसा नहीं कर सकता ।”

“अरे चाचीजी, यह न कहिए ! गोरी-चिट्ठी लड़की देखते ही सब लड़कोंका मन ऐसा पिघल जाता है जैसे गरमीसे मक्खन !”

चाचीको लगा जैसे कच्ची उम्रकी भोलीभाली बहूकी जगह कोई बड़ी-सी मेम सजी-बनी ऊँची एड़ीका जूता पहने उन्हे उपेक्षाके साथ घूरती चली आ रही हो : खट-पट खट-पट ! उन्होंने अपने विश्वासको कसकर पकड़ते हुए कहा, “यह कभी नहीं हो सकता । मेरा अशोक मेरी पसन्दसे ही शादी करेगा ।”

दो वर्ष और बीत गये । इस बरसातने चाचीको धरंदबाया । मले-रिया बुखार ! दो महीनेमे ही चाची खाटसे लग गयीं । घरमे कानाफूसी होने लगी । बुखार उतारे न उतरता था । एक शाम जब घरमे सब लोग सिनेमा देखनेके लिए गये हुए थे, इला चाचीको देखने आयी । चाची अपनी कोठरीमे पड़ी छतकी ओर ताकती हुई सोच रही थीं कि मरनेके बाद उनकी आत्मा कहाँ जायेगी । तभी आहट पाकर उन्होंने दरवाज़ेकी तरफ़ मुड़कर कहा,

“आ बेटा ! आज रमेश और मुन्ना नहीं आये ?”

“नहीं । ‘वे’ तो साथके किसी वकीलके घर दावत खाने गये हैं और मुन्ना अपने दादाजीके साथ बाज़ार गया है । मैंने सोचा उन लोगोंके साथ

आनेके चक्करमें पड़ेंगी तो देर हो जायेगी । आज घरमें बड़ा सन्नाटा है ?”

“हाँ, सब सिनेमा गये हैं । तूने अच्छा किया जो आ गयी ।” चाची के स्वरमें विचित्र-सा दर्द था ।

“कुछ काम है क्या चाची ?”

“हाँ; मेरे पास एक सन्दूकची रखी है वह तू ले जाकर अपने पास रख लेना । जब अशोक आयेगा तो मेरी तरफसे उसे दे देना ।”

“कैसी बातें कर रही हो चाची ? तुम दो-चार दिनमें ठीक हो जाओगी । फिर जब भैया लौटकर आयेंगे तो अपने हाथसे सब चीजें उन्हे देना ।”

“सो तो होगा ही बेटी ! लेकिन तू सन्दूकची तो हर हालतमें अपने पास ही रख ले । देखती नहीं, ये लोग तुम दोनोंसे कितना जलते हैं ? बहुएँ देख लेंगी तो कहेगी कि हमारे लिए तो कभी कुछ नहीं किया, पैसे-पैसेसे मोहताज बनी रही ! ले जा बेटी, उसे अपने साथ ले जा !” कहते-कहते चाचीने इलाको खींचकर हृदयसे लगा लिया । इलाकी मांगपर गरम बाँसुओंकी रेखा खिच गयी । चाचीने भारी स्वरमें कहा, “जो वह मेरे सामने न आ सका तो उससे कहियो कि चाचीके प्राण अन्त समय तक तुझी-मे अटके रहे....और तू....”

“क्या है चाची ? कैसी व्यर्थकी बातें कर रही हो ? मैं आज ही भइयाको लिख दूँगी कि खुद आकर तुम्हारा इलाज करें ।”

“लिखेगी तू ?....लिख दे रानी....वह आ जाये....किसी तरह वह आ जाये....लेकिन जिन्दगीका अब क्या भरोसा है बेटी, सन्दूकची तो तू निकालकर ले ही जा !....ये ले चाभी, मेरे सन्दूकमें ऊपर ही एक तरफ रखी है ।”

इलाने सन्दूकची निकाल ली । उसे लेकर, कुछ देर बाद, जब वह चली तो उसका मन बहुत भारी था । विचारोंमें खोयी हुई-सी वह सीढ़ियाँ उतर भी न पायी थी कि सब लोग वापस लौट आये ।

“अरे, तुम अभीसे वापस जा रही हो ? चलो बैठो खा-पीकर जाना ।”

कृष्णाने कहा, “लगता है आज तुमसे मिलना था इसीसे सिनेमाके टिकट नहीं मिले ।……”

“अब जाने दो भाभी ! घर पहुँचकर खाना बनाना है, बहुत देर हो जायेगी ।”

अबतक इला बीचकी सीढ़ीपर थी और सब लोग नीचे थे अतः इलाने सन्दूककी अपने पीछे कर ली थी । लेकिन कृष्णा जब ऊपरकी ओर बढ़ने लगी तब पीली सन्दूककी छुपी न रह सकी । कुमुदने पीछेसे इलाको हलका सा धक्का देते हुए कहा, “चलो बढ़ो, यहाँ क्या खड़ी हो ।”

इला सन्न रह गयी । कृष्णाका चेहरा देखकर ही वह जान गयी कि सन्दूककी उसने देख ली है । इससे अब रुक जानेमे ही कल्याण था । वह अपराधिनी-सी सिर झुकाये साथ हो ली । ऊपर पहुँचते ही कृष्णाने इलाके हाथकी ओर संकेत करके कहा, “उधर देखो कुमुद ! आज इलासे दावत माँगो ।……”

“और क्या ? दावत देनेवाली बात तो है ही । चाची आसानीसे किसी को देनेवाली नहीं है !” कुमुदके मुँहमे पानी भर आया ।

कृष्णासे न रहा गया । उसने इलाके हाथसे सन्दूककी अपने हाथोंमें लेते हुए कहा,

“ज़रा हमे भी तो देख लेने दो ! क्या-क्या माल लिये जा रही हो ?”

कुमुद पास आ गयी । अबतक जान-बूझकर आस-पास चक्कर काटते मनमोहन और जगमोहन भी पास खड़े हो गये । चाचीकी कोठरीका दर-वाज़ा इसी ओर खुलता था । वहीं पड़ी-पड़ी वह पीड़ाके साथ सबकी तरफ़ देखती रही । कृष्णाने सन्दूककी खोली । उसमे केवल एक कमीज़का कपड़ा और पोटलीमे बँधी पायलकी जोड़ी थी ।

सबके मुँहपर जैसे कालिख पुत गयी । इलाने एक बार चाचीकी ओर देखा, फिर धीरे-धीरे नीचे उतर गयी । कुमुदने अविश्वासके साथ कपड़े को झाड़कर देखा । फिर बिना तहाये नीचे ज़मीनपर पड़ी सन्दूककीमें

डालते हुए कहा, “चलो दीदी, देखें महाराजिनने क्या बनाकर रखा है।”

जगमोहन और मनमोहन खिसियाये हुए-से सबसे पासके कमरेमें घुस गये ।

चाचीके चेहरेपर मुरदनी छायी हुई थी । पीड़ा मानो उनकी आँखोंमें जमकर रह गयी थी । वह कोहनीके सहारे कुछ उठंगकर अपनी सूखी हथेलीपर पिचका रक्तहीन गाल रखे सामने पड़ी सन्दूकची और उसमे बिखरे सामानकी ओर एकटक देख रही थीं ।



एक बालककी डायरी :

छोटे हाथ: छोटी बात

८-८-१९५५

इस स्कूलके लड़के बहुत खराब हैं। कल बलराजके जरा-सा धक्का लग गया तो उसने तड़ाकसे मेरे गालपर चाँटा जड़ दिया। मैंने भी उसकी खूब मरम्मत की। कहता था टीचरसे शिकायत कर देगा। कर दे! मैं क्या किसीसे डरता हूँ! हूँ! जो मारेगा वह मार खायेगा: सीधी-सी बात है। अभी तो मारा ही है, किसी दिन बच्चूकी सारी किताबें फाड़कर फेंक दूँगा तो सीधे हो जायेंगे!

१५-९-१९५५

आज पहली बार 'सच्चल' खेलकर दो गोलियाँ जीतीं! बहुत सुन्दर गोलियाँ हैं: एक पीली, एक लाल! अब मेरा निशाना बहुत अच्छा हो गया है। आज 'खटान' बन्द। उसमें क्या फ़ायदा? बस खेलते जाओ, न गोली लेनी न देनी! जीतता तो मैं चार गोलियाँ, मगर वह लड़का है न—विकास! वह जनाब हारकर रोने लगे। मैंने भी सोचा रख ले अपनी दो गोलियाँ: समझ लूँगा कि झुट्टल खेल रहा था। मगर अब उसके साथ कभी नहीं खेलूँगा। भला खेलमें रो देनेवाले लड़केके साथ कोई क्या खेले?

१९-११-१९५५

स्कूलमें बहुत मन लगता है। हम लोग पानी पीनेके बहाने अकसर बाहर निकलकर नीमके नीचे खेलते हैं—कभी गुल्ली-डण्डा, कभी चोर-चोर, कभी गोलियाँ और कभी कबड्डी। लेकिन हरी बड़ा चुगलखोर है, जब कभी खेलते देख लेता है तो झट जाकर टीचरसे कह देता है। हम लोगोंको बेंच-

पर खड़े होकर सजा भुगतनी पड़ती है ! उस समय टीचरपर बहुत गुस्सा आता है, और मैं यह तय कर लेता हूँ कि उन्हें फिर कभी फूल लाकर नहीं दूँगा । हरीको भी हम लोग छोड़ थोड़े ही देते हैं ! टीचरके जाते ही उसे खूब चिढ़ाते हैं और उसे कभी अपने साथ नहीं खेलने देते ।

टीचरोंमें टीचर मित्रा सबसे अच्छी है । मुझे बहुत प्यार करती है । कल उनके लिए ढेरसे गुलाबके फूल ले जाऊँगा ।

१-१२-१९५५

आजकल स्कूलमें घटाना सिखाया जा रहा है । टीचर पूछती हैं : तुम्हारे पास दस आम हैं, पाँच किसीको दे दोगे तो कितने बचेंगे ? कैसा बेवकूफीका सवाल है ! हाथ आये आम कौन किसीको दे देगा ? और फिर जब हाथमें आम हो तो यह सवाल भी करें; बेकार ऐसी चीज़की याद दिलाती है कि मुँहमें पानी भर आता है !

५-१-१९५६

रास्तेमें बहुत बढ़िया चीज़ पड़ी पायी—हज़ारे और मनकदकी रंगीन तसवीरें । शायद किसी अखबारमें छपी होंगी । मैं भी बड़ा होकर क्रिकेट खेलूँगा.....नहीं, मैं रेलका इंजन चलाऊँगा । छक.....छक.....छक.....छक.....! या उड़ाका बनूँगा और जहाज़को आसमान तक ले जाकर उसमेंसे कागज़के परचे फाड़-फाड़कर फेंकूँगा । खूब बड़ा-सा मेरा घर होगा और बगीचेमें मैं झील खोदकर उसमें 'फट-फट' करके चलनेवाली छोटी-सी मोटर-बोट चलाऊँगा । अपने बच्चोंको तो दिन-भर खेलने दूँगा । न उन्हें आँधी-पानीमें कमरेमें बन्द करके बैठाऊँगा, न धूपमें जानेसे रोकूँगा । उन्हें बड़े-बड़े कन-कौवे लाकर दूँगा और खुद पतंग उड़ाना सिखाऊँगा । जाड़ेमें गरम कपड़े न पहननेके लिए कभी नहीं डाँटूँगा और सोते समय उन्हें रोज बढ़िया-बढ़िया कहानियाँ सुनाऊँगा और रंगीन तसवीरोंवाली किताबें लाकर दूँगा । तब तो बस आनन्द आ जायेगा ! घर-भरमें जहाँ देखो रसगुल्ले, चमचम और

तरह-तरहकी मिठाइयाँ ! दूधकी तो वहाँ एक बूँद भी नहीं रहेगी—बस थाल भर-भरके आइसक्रीम : जिसका जितना जी चाहे, खाये !

२०-३-१९५६

आजकल घरवालोके सिरपर भूत सवार है। हाँ हाँ, ठीक कह रहा हूँ। जब देखो तब चिल्लाते रहते हैं : जाओ पढो, हर समय खेलते रहते हो, परीक्षामे फेल हो जाओगे तो बैठकर रोओगे ! एक तो मेरी समझमे नहीं आता कि परीक्षा देनेकी जरूरत ही क्या है; दूसरे अगर फेल हो भी गये तो कौन-सी मुसीबत आ जायेगी ? दो साल एक ही क्लासमे पढ़ना तो और भी अच्छा है ! सब पढ़ा-पढ़ाया रहेगा। तेजके तेज रहेगे और खेलने-को भी ज्यादा मिलेगा। पिताजी न जाने मेरी बात क्यों नहीं समझ पाते !

१२-२-१९५७

कल पिताजी मुझे सर्कस दिखाने ले गये थे। वहाँके खेल देखकर तबीयत खुश हो गयी। अगर सर्कसवाले सारा साल यहींपर खेल दिखाते रहे तो कितना अच्छा हो ! ये लोग हाथी, घोड़े, शेर, चीते सबको इतना सिखा-पढ़ा कैसे लेते हैं ?....हाथी कैसे झूम-झूमकर गोल दायरेमे घूम रहे थे !....कभी सीधे, कभी उलटे, कभी लाइनमें, कभी अलग-अलग। और शेर तो बिलकुल हमारे टाँमीकी तरह कहना मान रहे थे ! जब वे दहाड़ते थे तब मैं तो डरके मारे आँखें और कान बन्द कर लेता था। समझमे नहीं आता उस आदमीकी वहाँ खड़े रहनेकी हिम्मत कैसे पड़ रही थी !....सटासट हण्टर चला रहा था। बहुत बहादुर है ! उसने अपनी गरदन ही शेरके मुँहमे डाल दी। मेरी तो साँस रुक गयी।....समझा कि बस अब बेचारा नहीं बचेगा !

मोटर-साइकिलवाला भी कमाल कर रहा था ! मोटर-साइकिल एकदम उलट जाती थी, फिर भी वह उसे चलाता जाता था और गिरता नहीं था ! मेरा तो जी चाह रहा था कि कूदकर उसके पीछे बैठ जाऊँ और

लोग मुझे भी देख-देखकर तालियाँ बजायें। मैं बड़ा होकर सर्कसमें ही काम करूँगा। माँ कहती हैं कि मैं इन्जीनियर बनूँ—मैंने भी उनसे कह तो दिया था, मगर अब उन्हें समझा दूँगा कि मैंने सर्कसमें काम करना तय कर लिया है। इन्जीनियर हो जानेपर तो पुल बनाने पड़ेंगे, रेलें बनानी पड़ेंगी, जहाज बनाने पड़ेंगे, बहुत मेहनतका काम होगा। ना बाबा ! इस झंझटमें कौन फँसे ! इससे तो अच्छी सर्कसकी नौकरी है।—ठाठसे जोकर बनकर घूमूँगा।—लम्बी नाक लगाकर, मुँह रँगकर और ढीले-ढीले कपड़े पहिनकर ! तब मैं भी कहूँगा : ऐ रिग मास्टर, तुमारे लिए हम ये नाया कुरसी मँगवाया है, तुम बैठेगा ?

रिग मास्टर सिर हिलाता हुआ बैठने लगेगा तो घड़ामसे गिरेगा। इसपर सब लोग खूब हँसेंगे। और मैं—‘ओ रे बाबा !’ कहता हुआ घोड़ेकी दुम पकड़कर भीतर भाग जाऊँगा।

१०-१०-१९५७

आज तो बदन जैसे टूटा जा रहा है। पिताजीने पीटा भी तो बहुत था। ज़रा-सी बातका बतंगड़ बना डाला। कहते थे, तू अमितसे झूठ क्यों बोला ?—झूठ न बोलता तो क्या उसे अपनी नयी किताब दे डालता ? यह अच्छी रही ! अमितजी अपने-आप क्यों नहीं खरीद लेते जाकर ? बाज़ारमें किताबें नहीं हैं या उनके पास पैसोंकी कमी है ? यह कहिए कि माँगनेकी आदत पड़ गयी है। जहाँ कोई अच्छी चीज़ देखी कि हाथ फैला दिया। अगर मैं बहाना न करता तो जनाब इतमीनानसे मेरी किताब हथिया लेते और फिर वापस करनेका नाम भी न लेते। तब भी डाँट मुझे ही पड़ती कि ऐसे लडकोंको अपनी चीज़ दे क्यों देता हूँ ! यह खूब है : चित भी उनकी पट भी उनकी ! खैर, मुझे न झूठ बोलनेका दुःख है, न मार खाने का। दुःख इसी बातका है कि यह सब उस दुष्ट लड़केके सामने हुआ। अब वह जाकर सबसे कह देगा। मैं तो कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रहा।

सारी गलती पिताजीकी है ।—उन्हे बीचमें कूदनेकी क्या पड़ी थी ? मेरी किताब है, जिसे चाहूँ दूँ जिसे न चाहूँ न दूँ । अब तो मैं किसीके साथ खेलने ही नहीं जाऊँगा । कोई आयेगा तो कहला दूँगा कि घरपर नहीं हूँ । लेकिन इसमे तो फिर झूठ बोलना पड़ेगा । तो झूठ ही सही ! कलूँ क्या : अपने मतलबके लिए झूठ कौन नहीं बोलता है ? आज ही शामको पिताजी दफ्तर से लौटकर चाय पी रहे थे । टेलिफोनकी घण्टी बजती देखकर उन्होंने मुझे पुकारा, “कमल, जरा देखो तो किसका फोन है ?” “धवन साहब आपको पूछ रहे हैं,” मैंने लौटकर उनसे कहा । “अरे, क्या तुमने कह दिया कि मैं घरपर हूँ ?” “जी नहीं, मैंने कहा कि अभी देखकर बताता हूँ !” “शाबाश, ठीक किया ! कहीं आ धमकेगा तो रात तक दिमाग चाट जायेगा । जाओ, कह दो पिताजी अभी दफ्तरसे नहीं लौटे हैं !” “जी अच्छा,” मैंने उत्तर दिया । “और हाँ, यह भी कह देना कि आज देरसे आनेकी बात है,” मैंने मुझे समझाया !

मैंने धवन साहबसे यही कह दिया । लेकिन तबसे बार-बार यह बात मेरे मनमे उठ रही है कि अगर मुझे झूठ नहीं बोलना चाहिए तो माँ और पिताजीको भी नहीं बोलना चाहिए । एक ही बात मेरे लिए गलत और उनके लिए ठीक कैसे हो जाती है ?

२-३-१९५८

नीचेके कमरेमें प्याले-प्लेटें खनक रहें हैं । ये लोग कितने जोर-जोरसे हँस रहे हैं ! शायद खूब मजेदार बातें कर रहे होंगे ।—लेकिन मैं वहाँ नहीं जा सकता, क्योंकि मैं बदतमीज हूँ । बड़ोंकी बातें ध्यानसे सुनता हूँ, और समझमे न आनेपर सवाल पूछ बैठता हूँ, तो इसमें बुराई क्या है ? पूछूँगा—हज़ार बार पूछूँगा—लाख बार पूछूँगा । कोई मेरा क्या कर लेगा ? जी चाहता है इस मेज़को धक्का देकर गिरा दूँ, यह किताब उछाल दूँ, खूब चिल्ला-चिल्लाकर गाना गाऊँ जिससे सबका ध्यान मेरी तरफ़ बैठ

जाये । मुझसे कह दिया, “तुम चुपचाप ऊपर बैठकर पढ़ो, नीचे आये तो डाँट खाओगे !”— हर समय पढ़ाईकी बात ! दिन-भर तो स्कूलमें माथा-पच्ची करो, ऊपरसे यह घरका काम ! दर्जनों सवाल, अंग्रेजी, हिन्दी, भूगोल, साएन्स, इतिहास और जाने क्या-क्या ! कोई मुझे समझाये कि इतिहास रटनेसे क्या फ़ायदा ! अशोकने लोगोंकी भलाईके लिए क्या-क्या काम किये ? मुझसे मतलब ? उसने कुएँ खुदवाये तो क्या, और पेड़ लगवाये तो क्या ? मैं उन कुओंका पानी पीने जाऊँगा कि पेड़ोंके फल खाने जाऊँगा ? सवाल दिये जायेगे सो भी उलटे-सीधे ! ‘अगर एक आदमी ४ मील २ फ़र्लाङ्ग एक दिनमे चलता है तो ३० दिनमे कितनी दूर जायेगा ?’ ऐसा कभी हो सकता है कि कोई बिना रुके चलता ही चला जाये ? आदमी न हुआ मशीन हो गया ! मैं तो यही सोचता हूँ कि कहींसे जादूकी एक अँगूठी मिल जाये तो खिड़कीके रास्ते सामनेवाले मैदानमें जा पहुँचूँ । उन लड़कोंके साथ कबड्डी खेलूँ, पतंग उड़ाऊँ और हरी-हरी घासपर नंगे पाँव खूब दौड़ूँ !



सूने दिन : सूनी रातें

दीवारकी घड़ीने टन-टन-टन तीन बजाये। गलीके छोटे-से एक मकान के कमरेमें अकेली पड़ी हुई बुढ़िया बड़बड़ायी, “अभी तीन ही बजे है ! रातें कितनी लम्बी होती है भगवान् !” उसने आँखें बन्द करके फिर सोने की चेष्टा की लेकिन देरसे सोने और जल्दी उठनेकी आदत होनेके कारण उसे नींद न आयी; करवट बदलते हुए लिहाफ़ सर तक खीचकर ओढ़ लिया। पाँच-दस मिनिट चुपचाप पड़ी रहनेके बाद वह ऊबकर उठ बैठी। स्टूलको टटोलकर उसपर रखे लोटेसे पानी लेकर कुल्ला किया, आँखोंपर पानीके छोटे देकर धोतीके पल्लेसे मुँह पोंछा, और वही खाटपर बैठे-बैठे हाथ जोड़कर सर झुकते हुए श्रद्धा-भरे स्वरमे कहा, “बेडा पार करियो स्वामी, तेरे ही आसरे हूँ ! हे नाथ, चलते-फिरते हाथ-पैरों मौत दीजियो !” स्वरचित इस प्रार्थनाके बाद वह अपने पोपले मुँहसे गुनगुनाने लगी, “शरण तुम्हारीमें हम पड़े हैं, दया करो हे दयालु भगवन् !” ब्राह्म मुहूर्तमे, इसी तरह बैठकर, यही प्रार्थना और यही भजन वह बीसियों सालसे गुनगुनाती आयी है।

वह आठ वर्षकी थी तभी उसका विवाह हो गया था; तेरह वर्षकी होते-होते उसका गौना हो गया और उसी कच्ची आयुमें झाड़ू देने और कपड़े धोनेसे लेकर खाना बनानेतकका सारा काम अपने हाथोंमें लेकर वह निरन्तर उसे कुशलता-पूर्वक निबाहती रही। जाड़ोंके दिनोंमें अवकाश पाने पर वह ससुर और पतिके स्वेटर, गुलबन्द और मोझे बिनती थी, और गरमियोंमे तकियेके शिलाफ़ोंपर फूल तथा सासकी या अपनी धोतियोंपर बेलें काढ़ा करती थी। पढ़ना-लिखना उसे बिल्कुल नहीं आता था। माँ-बापने यह कहकर टाल दिया था कि क्या वह कचहरी जायेगी जो उसे

पढ़ा-लिखाकर चौपट करें ? सास-ससुरने भी इसकी आवश्यकता नहीं समझी, और पतिको तो पत्नीके विषयमें कुछ कह पानेका अधिकार था ही नहीं । वैसे पति शौकीन तबीयतका था और यदि वह उसके पास रहता तो धीरे-धीरे शायद वह चिट्ठी लिखना-पढ़ना सीख जाती, किन्तु सेनामें भरती हो जानेके कारण वह अधिकतर परदेश ही रहता था । बीचमें जब कभी उसे पत्नीको साथ रख पानेकी सुविधा मिली और बहुत सोचने-विचारनेके बाद जब डरते-डरते उसने इस ओर संकेत किया तो माँ-बापने दुलारमें यही कहकर टाल दिया, “अरे, अभी तो वह बच्ची है, भला परदेशमें अकेली कैसे रह पायेगी !”

इसी तरह दिन बीतते गये । पति बराबर ‘पूज्य बाबू और अम्मा’के नाम पत्र लिखकर भेजता, ससुर बाँचते और सास-बहू तन्मय होकर सुनतीं । आपसमें चिट्ठी-पत्री लिखते रहनेकी न कभी आवश्यकता ही समझी, न उसके लिए उपयुक्त साधन ही थे । हाँ, अपने साथियोंकी देखा-देखी छुट्टियाँ घरपर बिताकर वापस जाते समय दो बार वह एक-एक लिफाफेपर अपना पता लिखकर पत्नीको देते हुए उससे अनुरोध कर गया था कि वह उसे पत्र लिखवाकर डलवा दे । इसके लिए दिनमें सास-ससुरके सो जानेपर बड़ी मिन्नत करके वह अपनी एक पढ़ी-लिखी पड़ोसिन बहूको पकड़ लायी थी और घण्टों सोच-सोचकर उसने अपने ये प्रेम-पत्र लिखाये थे, जिनमें ऊपर नीचे कुछ नहीं लिखा था “यहाँ सब लोग अच्छी तरह है । देवी मइया आपको राजी-खुशी जल्दी घर लौटायें । अपना खयाल ठीकसे रखियेगा । यहाँ सबको घर बड़ा सूना लगता है ।” यही उसके दोनों प्रेम-पत्र थे, जो उसने दो-दो आना घूस देकर डलवाये थे ।

किन्तु उसकी मनोकामना मन ही में रह गयी और एक दिन तार द्वारा उसे अपने दुर्भाग्यकी सूचना मिली । सास छातो पीट-पीटकर चिल्लाती रही, “हाय बहू—यह क्या हुआ ?—यह दिन भी मुझे देखना बदा था भगवान् ! तूने मुझे इससे पहले ही क्यों नहीं उठा लिया—हाय बेटी ! अब

तेरा क्या होगा ?”

लेकिन होना क्या था ! वह रोती रही और जीती रही । दस-पन्द्रह वर्ष साथ देनेके बाद एक-एक करके सास-ससुरने भी आँखें मींच ली और वह बिलकुल अकेली रह गयी । और इस नितान्त सूनेपनको वह तीस साल से ढोती आ रही है ।

बुढ़ियाने प्रार्थनाके बाद पाटीपर सर झुकाया; कुछ क्षण वैसी ही बैठी रहनेके बाद पाँव खाटके नीचे लटकाये, और उतरनेकी चेष्टा करने लगी । एक पाँव जमीनपर लगा, और फिर प्रयास करके उसने दूसरा भी धरतीपर टेक दिया । स्टूलका सहारा लेकर वह धीरे-धीरे खड़ी हो गयी लेकिन स्टूल छोड़ते ही डगमगाने-सी लगी । उसने, अन्दाजसे, दीवारपर हाथ टेक दिये और सहारा लेकर कई कदम आगे बढ़ाये । इस तरह कुछ दूर बढ़नेके बाद टटोलकर उसने आलेपर-से लालटेन और माचिस उतारी, काँपते हाथोंसे कई बार तीलीको मसालेपर रगड़ा पर हर बार तीली डिब्बीके ऊपर-नीचे या दायें-बायें निकल गयी । ‘ओफ !’ कहते हुए बुढ़ियाने वह तीली फेंककर दूसरी निकाली और किसी तरह लालटेन जलाकर धीरे-धीरे चौकेमे चली गयी । रातमे उसे बहुत कम दीखता था इसलिए वह दिनमे ही चूल्हेमे लकड़ियाँ चुनकर लगा देती और वही थोड़ा-सा कागज भी रख देती थी । आग जलाकर उसने पानी गरम किया । जाड़ेमे ठण्डे पानीसे नहानेपर उसका सारा शरीर ऐंठ जाता था इसलिए इतना कष्ट उठाकर भी वह गरम पानी से ही नहाती थी ।

नहानेके बाद एक फटे कम्बलपर बैठकर वह माला फेरने लगी । पासके घरसे किसी बच्चेकी रोनेकी आवाज सुनकर, अभ्यस्त अँगुलियोंसे मालाके दाने आगे खिसकाते हुए और मुँहसे ‘राम-राम !’ कहते हुए उसने सोचा, ‘यह तो रमुआकी आवाज है ! बेचारा सवेरे-सवेरे रो रहा है !’...आज-कलका जमाना ही खराब है । हमारे समयमें माताएँ दिन-रात बच्चोंके आगे-पीछे घूमती रहती थीं । लेकिन अब तो वे बिलकुल ध्यान ही नहीं

देतीं—न ढंगसे तेल लगायें न काजल—बस जल्दी-जल्दी नहला-धुलाकर उलटा-सीधा कुछ खिला-पिला दिया और फिर छुट्टी—मेरे बच्चे होते तो इन सबको दिखा देती कि बच्चे कैसे पाले जाते हैं—बच्चे होते तो अबतक बड़े-बड़े नाती-पोते होते—वंशका नाम चलता—पुरुषोंको पानी देनेवाला कोई होता—’ सोचते-सोचते सहसा उसका हाथ रुक गया और आंचलसे उसने अपनी गीली पलकें पोंछ लीं । बच्चा रो-धोकर शायद फिर सो गया था । वृद्धाकी विचारधाराने भी दिशा बदली, ‘आज खानेके लिए क्या बनाऊंगी ?—पूड़ी और गोभीकी तरकारी—कल तरकारीवाला दो आनेका एक गोभीका फूल दे गया था—पहले तरकारी कितनी सस्ती मिलती थी और अब—अब तो किसी चीजपर हाथ रखना भी मुश्किल है—’ सहसा उसके घुटनोंमें टीस-सी उठी । बायें हाथसे घुटने दबाती हुई वह फिर विचारोंमें बह चली—‘बड़ा दर्द है पैरोंमें—कोई तेल लगाकर अच्छी तरह दबा दे—मगर कौन ?—मेरे समय कौन काम आयेगा ?—एक मैं ही मूरख थी जो सारे मुहल्लेके लिए जान देती फिरती थी—आज रगड़के घर बड़ियोंकी दाल पिसवानी है—कल राधाकी माँके साथ आलूके पापड़ बिलवाने है—परसों शीलाकी रेशमी धोती काढ़नी है—गली-भरमे कोई ऐसा घर नहीं था जहाँ मेरे हाथकी बिनी हुई कोई-न-कोई चीज न रही हो—नन्हे-नन्हे मोजोंसे लेकर बड़े-बड़े स्वेटर और गुलबन्द तक—मगर सब अकारण था—सब बेकार—’ सोचते-सोचते उदास होकर उसने घुटनोंपर सर टेक लिया, सहसा याद आ जानेपर वह, चौककर, फिर जल्दी-जल्दी माला फेरने लगी ।

सूरज निकल आनेपर वह उठी, सुबह-शामका खाना बनाकर रख दिया और चायका गिलास तथा तीन-चार उबले आलू लेकर उसी कम्बल-पर बैठकर वह फूँक-फूँककर चाय पीने लगी । वह अकसर बीमार रहती थी । रक्तचाप बराबर बढ़ा रहता था, इसीसे डॉक्टरने नमक, दूध और गरिष्ठ भोजन बन्द कर दिया था । लेकिन उसकी अपनी सीमाएँ थीं : वह

क्या करती ? कौन गरम-गरम रोटी बनाकर उसे खिलाता ? कौन बार-बार चूल्हा जलाता और कौन उसके भोजनमें हलके-भारीका भेद करता ? अपने काँपते हाथोंसे जो कुछ बन पड़ता वही पकाकर रख देती थी ।

वह चाय पी रही थी पर उसकी दृष्टि दरवाज़ेपर अटकी थी । वह चाहती थी कि कोई बच्चा भी आ जाता तो वह उससे कुछ बातें करती । जबतक उसके पैरोंमें दम रहा वह मुहल्ले-भरमें चक्कर लगाती रही और सबकी बहू-बेटियाँ उसके पास आती-जाती रहीं, पर अब वह ज्यादा चल-फिर नहीं सकती । इसके अतिरिक्त जो उसके बराबर की हैं उन्हें अपने-अपने लम्बे-चौड़े परिवारोंमें दम मारने तककी फुरसत नहीं है । युवतियाँ यँ ही उससे कन्ना काटती हैं कि कही बुढ़ियाने देख भी लिया तो घण्टे-भर तक दिमाग़ चाटेगी । बच्चे ज़रूर उसके पास आते हैं, मगर सिर्फ़ दोपहरके भोजनके बाद जब उन्हें फिर भूख लगती है और घरमें कुछ माँगनेका साहस नहीं होता । तब वे उसे 'दादी, दादी !' पुकारते हुए घेर लेते हैं और जो कुछ पाते हैं छीन-झपटकर खा लेनेके बाद फ़ौरन वापस भाग जाते हैं । वे हमेशा इसी चक्करमें रहते हैं कि कब कुछ मिले और कब भागें, पर उनकी प्यारी-प्यारी बातोंके लिए लालायित, अकेलेपनसे ऊबी हुई बुढ़िया कभी गरम-गरम हलवेका लालच देकर, कभी बेसनके लड्डू दिखा-दिखाकर उन्हें रोके रखना चाहती है जिससे कुछ देरके लिए ही उसका घर भरा रहे । लेकिन बच्चे उसके भी गुरू थे । जब वह कहती, "आओ मेरे पास बैठो, मैं तुम्हारे लिए बहुत बढ़िया मिठाई बना दूँगी ।" तो वे उसके गलेमें अपनी नन्ही-नन्ही बाँहि डालकर बड़े दुलारसे कहते, "दादी ! तुम बड़ी अच्छी हो—तुम बनाओ, तबतक हम बाहर खेलते हैं, जब बन जाये तब पुकार लेना ।"

बुढ़िया इसमें ही तृप्त हो जाती थी । उनको लेकर व्यस्त रहनेमें भी उसे अपार सुखका अनुभव होता था ।

बच्चोंके अतिरिक्त उसका एक साथी और है, किशन । तेईस-चौबीस

वर्षका हँसमुख और बातूनी युवक । वह किसी दफ्तरमे काम करता है । पड़ोसमे कोई बराबरका न होनेके कारण वह अविवाहित-अलमस्त युवक समय काटनेके लिए अकसर उसके पास आ बैठता है और दुनिया-भरकी खबरें सुना जाता है । एक दिन वह ताश लेकर आया और बोला,

“आओ दादी, तुम्हे ताश खेलना सिखा दूँ !”

“अरे बेटा, घाट किनारे लकड़ियाँ सूख रही हैं—अब मैं क्या ताश खेलूँगी ।”

“वाह दादी, ताश खेलना क्या कोई बुरी बात है ! तुम पत्ते तो उठाओ, मैं बताता चलूँगा । इस खेलको कहते हैं ‘रमी’—ये लो-दस पत्ते ।”

बुढ़ियाने किशनका मन रखनेको पत्ते उठा लिये थे, लेकिन धीरे-धीरे खुद उसका मन ताशके उस खेलमे रमने लगा । उसने किशनको दो रुपये देकर नये ताश मँगवा लिये । इतवारको दिनमे उनका खेल निश्चित रूपसे जमने लगा । लेकिन कुछ ही दिनोंमे उस खेलसे किशनका मन ऊबने लगा । वह अकसर कामका बहाना करके चला जाता था । उसके न आने या आकर जल्दी चले जानेपर बुढ़िया बहुत दुखी होती और कभी-कभी छुपकर रो भी लेती थी । बहुत सोचने-विचारनेपर आखिर उसे एक उपाय सूझा । वह किशनके साथ पैसोंसे रमी खेलने लगी । एक पैसेके दो पॉइण्ट लगते । खेलमे अनाडी होनेके कारण हार बराबर उसीकी होती थी । किशन भी सोचता कि चलो दो-ढाई घण्टेमे रुपया-डेढ़ रुपया मिल जाता है तो क्या बुरा है—शामको सिनेमा देखनेके लिए काफ़ी है । और इस तरह इतवारको उनका खेल नियमित रूपसे चलता रहा ।

उस दिन भी चाय पीनेके बाद बुढ़ियाने मुसकराकर अपने आपसे ही कहा, “आज इतवार है—किशन जरूर आयेगा ।” बाहरके कमरेमे चटाई बिछाकर उसने एक तरफ़ दो तकिये रख दिये और बीचमे ताशकी गड्डी । इसके बाद बेंतकी एक पुरानी टूटी हुई आराम-कुरसीको खिड़कीके पास खींचकर वह लोगोंका आना-जाना देखती रही, उनकी बात-चीत सुनती

रही और उतनी दूर बैठे-बैठे ही उनके सुख-दुःखमे भाग लेती रही ।

काफ़ी देर बाद उसे किशन आता दिखायी दिया । सहसा उसका चेहरा खिल उठा और उसपर पड़ी हुई झुर्रियाँ सिमटकर और भी पास-पास हो गयीं । बड़े उत्साहसे उसका स्वागत करती हुई वह बोली, “आओ बेटा !—न जाने कबसे तुम्हारी राह देख रही हूँ ।”

“नहीं दादी, अभी बैठूँगा नहीं—अम्माने ये पूछनेको भेजा है कि तुम्हारे पास फूलदार दरी है ?”

“हाँ हाँ, वह कोनेमें जो बड़ा सन्दूक है उसीमे है, चलो निकाल दूँ ।”

“नहीं दादी, तुम बैठी रहो, मैं ही उठाये लाता हूँ ।”

बुढ़ियाने धड़कते हुए मनसे पूछा, “बापस आओगे न किशन ! या कोई मेहमान आये है ?”

किशनका चेहरा सहसा लाल हो गया । उसने कुछ सकुचाते हुए मुसकरा कर उत्तर दिया, “इटावेवाले आये है,” और इतना कहकर वह तेज़ीसे बाहर चला गया ।

बुढ़ियाके हाथ-पैर सुन्न पड़ गये । आँखें फाड़-फाड़कर वह दरवाजेकी तरफ़ देखती रही । ‘इटावेवाले आये है,’ यह तीन शब्द हथौड़ेकी तरह मनपर चोट करने लगे । ‘नहीं नहीं,’ यह कभी नहीं हो सकता, उसने घबडाकर सोचा, ‘वे लोग इसे कभी पसन्द नहीं करेंगे । वे सिर्फ़ देखकर ही लौट जायेंगे । लेकिन किशन सुन्दर है, कामकाजमे लगा हुआ है, अच्छे घरका है—फिर भला कोई उसे क्यों नहीं पसन्द करेगा ?’

उसे लगा जैसे उसकी साँस रुक जायेगी । इस आघातसे जर्जर होकर वह एकाएक रोने लगी । उसकी ठोड़ी फड़कने लगी और नाक लाल हो गयी । आसमानकी ओर देखते हुए बड़े विषाद-भरे अस्फुट स्वरमे उसने कहा, “मेरे जीते जो कहीं उसकी शादी न हो जाये, भगवान् ! नहीं तो क्या फिर वह मुझ बुढ़ियाके साथ कभी ताश खेलने आयेगा ?”

दो-चार घण्टे बहुत खिन्न-सी चुपचाप कुरसीपर बैठी वह सूनी गलीकी

ओर देखती रही। बैठे-बैठे उसे ध्यान आया कि सन्दूक खुला पड़ा है। उसने उठनेकी चेष्टा की मगर काफ़ी देर बैठे रहनेके कारण पैर सो गया था। वह धीरे-धीरे उठी और बड़ी मुश्किलसे भीतरकी कोठरीमें पहुँच सकी।

डॉक्टर उसे बता चुका था कि यदि वह उचित परहेज़ और दवा न करती रही तो पक्षाघातकी पूरी सम्भावना है। इस बातको याद करते हुए वह काँप उठती थी। उस दशाकी कल्पना इतनी भयावह थी कि वह हर प्रकारका प्रयास करके उसे भूली रहना चाहती थी।

इसी तरह अकेले बैठे-बैठे सूरज डूब गया। उसने ठण्डी साँस लेकर शून्यमें कहा, “फिर रात शुरू……” अँधेरेमें उसका मन बहुत घबराता था। अकेले एक-एक पल काटना भारी हो जाता था। न बीता हुआ कुछ दोह-रानेको था, न भविष्यसे कोई आशा। बस, केवल सूनापन, सूनापन, सूनापन !

खाना खाकर वह ओढ़कर पड़ रही। रात अँधेरी थी: जाड़ेकी लम्बी ठिठुरती रात। सोते-सोते वह डर गयी, उसकी घिग्घी बँध गयी और वह चौककर उठ बैठी। सपनेमें उसे लगा जैसे कोई उसका गला दबाये दे रहा था। वह बहुत घबरा गयी और उसका गला बिलकुल सूख गया। पानीके लिए उसने खाटसे नीचे उतरनेकी कोशिश की किन्तु पाँव लड़खड़ाये और वह नीचे गिर पड़ी। उसका कलेजा बैठने लगा, डरके कारण आँखें फ़ैल गयी। साँस बेहद तेज चलने लगी। उसने दोनों हथेलियाँ ज़मीनपर टेक कर उठनेकी कोशिश की मगर हाथोंमें पूरे शरीरका भार सम्हालनेका दम नहीं था। वह फिर लुढ़क गयी। उसको आँखोंसे आँसू बहने लगे और ‘हाय राम’ कहकर वह सोचने लगी कि किसे पुकारें। उसे लगा कि इसी दुर्दशामें उसका अन्त होगा। वह सालों एक गन्दी खाटपर अर्ध-जीवित शवकी तरह पड़ी-पड़ी मौतकी घड़ियाँ गिनती रहेगी, हाथ-पैर बिलकुल सुन्न, बेकाम ! प्यासके मारे उसका गला सूखता रहेगा और कोई बूँद पानी देने नहीं आयेगा, लोग नाक-भों सिकोड़कर सामनेसे निकलते हुए कहेंगे :

मरती भी नहीं यह बुढ़िया ! और वह इसी धिनौनी खाटपर असहाय पड़ी रहेगी, पड़ी रहेगी.....!

सोचते-सोचते उसका रोम-रोम सिहर उठा और वह अस्फुट स्वरमे कह पड़ी, “नहीं ! नहीं ! यह लकवा नहीं है, कभी नहीं.....” उसने सुना था कि पक्षाघातके बाद उस अंगको चाहे काट भी डालो पर बिलकुल दर्द नहीं होता । उसने पागलोंकी-सी फुर्तीसे हाथको मुँहमे डालकर दबाया, लेकिन मुँहमे दाँत तो थे नहीं । हारकर उसने हाथको ज़मीनपर दे मारा । हाथकी हड्डी जमीनसे टकरायी और उसमें तेज दर्द हुआ । बुढ़ियाने पुलकित होकर अपने पैरो और टाँगोंमे चुटकियाँ काटकर देखा : सारेमे दर्द हुआ । उसने सन्तोषकी साँस ली । नये साहसके साथ उसने एक हाथसे खाटका पाया पकड़ा और दूसरेसे दीवारका सहारा लेकर उठनेकी चेष्टा की । धीरे-धीरे वह उठकर बैठ गयी और दोनों हाथोंसे खाट पकड़कर खड़ी हो गयी । पानी पीने जानेका विचार छोड़कर वह चुपचाप बिस्तरेपर बैठ गयी । कुछ देर इसी तरह बैठे रहनेके बाद उसने लिहाफ़ खींचकर पैरोंपर डालते हुए बच्चोंकी-सी सरलताके साथ मुसकराकर बड़े आश्वस्त स्वरमे अपनेको समझाते हुए कहा, “कुछ भी तो नहीं हुआ था, मैं बेकार ही डर गयी !”



तब वह रो पड़ी

उस दिन जनाने डब्बेमे बहुत भीड़ थी। यूँ तो लखनऊसे ही डब्बा खचाखच भरा हुआ था, लेकिन रायबरेली पहुँचते-पहुँचते उसमे नीचे बैठने भरकी भी जगह नहीं बची। जो स्त्रियाँ आरामसे बैठी हुई थी वे नयी चढ़नेवालयोसे बराबर चिल्ला-चिल्लाकर कहती जा रही थी, “अरे मदनि मे जाकर क्यों नही बैठती जो इसीमे भरती जा रही हो? यहाँ क्या हमारे सिरपर बैठोगी?”

डब्बेके भीतर खासी चहल-पहल थी। एक ओर घुटनोसे नीची फ्राँक पहने और कन्धोंपर सफेद दुपट्टा डाले कुछ ईसाई महिलाएँ, सुबहकी प्रार्थनाके बाद आँखें बन्द करके तीखे स्वरमे झूम-झूमकर गा रही थीं, ‘जय-जय ईसू, जय-जय ईसू!’ पास ही तीन-चार अधेड़ स्त्रियाँ बाँयो ओर कमरमे धोतीका पल्ला खोसे, पान चबाती हुई, अपनी बहुओंकी व्याख्या कर रही थी और धीरे-धीरे इस निष्कर्षपर पहुँच रही थी कि आजकल के लड़के बिलकुल बेहाथ हो गये हैं और बहुओको बिगाड़नेमे काफी दिल-चस्पी लेते हैं।

बीचकी सीटपर बैठी कॉलेजकी पाँच-छह लड़कियोंमे बहस चल रही थी कि क्लासमे सबसे भला लड़का कौन है। ‘भले’से उनका आशय शायद उन इने-गिने लड़कोसे था जो लड़कियोके सामने पड जानेपर लाजसे गुलाबी हो या तो नोट-बुकके बँधे हुए फीतेको जल्दी-जल्दी खोलकर फिरसे बाँधने लगते हैं या मोजे ठीक करनेके बहाने सिर झुका लेते हैं।

दरवाजेके पास किनारेकी सीटपर दो महिलाएँ बैठी थीं। एक चटख लाल रंगकी साड़ी पहने थी दूसरी हरे रंगकी। हरे रंगवाली नितान्त उदासीन मुद्रामें अँग्रेजीका कोई उपन्यास पढ़ रही थी। लाल रंगवाली देखनेमे

सुन्दर थी किन्तु उसके चेहरेपर कुछ ऐसा भाव था मानो वह दम्भके साथ पूछ रही हो, 'देखा आपने मुझे ? इसीको कहते हैं रूप !' उसका नन्हा-सा गोरा-गोरा बच्चा पास ही सीटपर बिछे रेशमी गद्देपर सो रहा था । वह आरामसे सीटपर पैर फैलाकर बैठी आसमानी रंगका छोटा-सा स्वेटर बुन रही थी और रह-रहकर अपने बेटेकी ओर देखती जाती थी । सामने बैठी एक युवतीने उसके आधे पेट तक खुले ब्लाउजसे चिढ़कर रूखे स्वरमे आदेश-सा दिया,

“जरा अपना सन्दूक ठीकसे रख लीजिए !”

“ठीक ही तो रखा है ।” और भी अधिक रूखे स्वरमे उत्तर मिला ।

“वाह रे ठीकसे रखना ! अभी किसीके सिरपर आ गिरेगा तो सब पता चल जायेगा !”

“अच्छा-अच्छा, गिरेगा तो हमारा सन्दूक गिरेगा, तुमको क्या करना है !”

“मुझे क्या करना है ? अरे सिर तो मेरा ही फूटेगा ! जरा हटाकर क्यो नही रख देती ?”

“नही रखते, हमारा मन !”

“वाह रे तुम्हारा मन ! ऐसा ही है तो मैं ही उठाकर दूसरी तरफ डाले देती हूँ !”

“मेरे सन्दूकको हाथ मत लगाना, बहनजी, कहे देती हूँ...हाँ ।” लाल साड़ीवाली महिलाने क्षण-भरके लिए बुनाई रोककर क्रोधके साथ उसे धूरते हुए कहा ।

“तुम्हारी-जैसी बहुत देखी है । गिरने दो जरा सन्दूकको, तब मैं भी समझ लूँगी.....” युवती बड़बड़ाती रही किन्तु सामने बैठी महिलाका स्वास्थ्य देखकर उसके सन्दूकको हाथ लगानेका साहस नही हुआ । लाल साड़ीवाली चुपचाप स्वेटर बुनती रही । तभी एक स्त्री, जो उन दोनोंका मधुर वार्तालाप सुनकर सकपकायी-सी दरवाजेके पास खड़ी थी, गिड़गिड़ाती हुई

उससे बोली,

“बीबीजी, जरा आप पाँव समेट लें तो हम अपने लल्लाको यहाँ लिटा दें।”

उत्तरमे लाल साड़ीवालीके माथेपर बल पड़ गये और लिपस्टिक लगे ओठोंके बीचसे आवाज आयी,

“खबरदार ! इस गन्दे लडकेको मेरे बेबीके पास मत लिटाना । मेरा बेबी इससे छू गया तो बीमार पड़ जायेगा । ना बाबा, इस सीटपर मैं तुम्हे नहीं बैठने दूँगी । न अपने पास, न बेबीके पास । नीचे दरवाजेके पास जगह खाली पड़ी है वही चाहो तो उसे लिटा दो, नहीं तो गोदमे लिये बैठी रहो ।”

स्त्री देखनेमे लगभग सत्ताईस-अट्ठाईस वर्षकी लग रही थी । साँवला रंग, खीचकर पीछे बाँधा हुआ जूडा, माथेपर बड़ी-सी बिन्दो, माँगमे सिन्दूर, तनपर मोटी जोड़ेकी धोती और कुरतेनुमा ब्लाउज़, बाँहपर नीले फूलोंके बीच गुदा हुआ ‘चम्पाकली’ नाम । गोदमे नन्हा-सा लड़का लिये वह दरवाजेसे सटकर खड़ी-खड़ी बैठनेकी जगहके लिए इधर-उधर देखती रही किन्तु कहींसे प्रोत्साहन न पाकर वही बैठ गयी । पास बैठी एक बूढ़ी स्त्रीने बिना अपने स्थानसे खिसके स्नेह जताया ।

“अरे क्या गजब कर रही हो ! गोदमें नन्हा-सा बच्चा है । खुले दरवाजेके बीच लिये बैठी हो, जरामे छिटककर बाहर गिर पड़े तब ?”

चम्पाकलीने कृतज्ञतासे वृद्धाकी ओर देखते हुए उठकर दरवाजा बन्द कर दिया और फिर वहीं बैठ गयी । वह बड़े प्यारसे गोदके बच्चेकी ओर देखती हुई बोली,

“पता नहीं कितने पूजा-पाठ कराये, जन्तर-मन्तर पढ़ने, देवी-देवताओ के दरबारमे मित्रतें मानीं, तब जाकर दस बरस बाद बड़े-बूढ़ोंके पुनः परतापसे यह हुआ है । बीस-बाईस दिनसे दादा-दादीके पास आया हुआ था—सबका बड़ा दुलारा है, मजाल क्या जो एक मिनटके लिए भी कोई

इसे खाटपर लिटा दे । मगर 'उनको' रोटी-पानीकी बड़ी तकलीफ थी इसी से वापस जा रही हूँ," फिर धोतीका पल्ला माथे तक खींचती हुई कुछ लजा कर बोली,

"और सच तो यह है कि इसे गोदमे लिये बिना इसके बापके गलेसे रोटी नीचे ही नहीं उतरती । तभी तो इसका नाम 'डुलारे' रखा है—" इतना कहकर उसने अपने चारो ओर देखा किन्तु किसीको अपनी बातपर ध्यान न देते देख वह चुप हो गयी ।

गाड़ी एक छोटे-से स्टेशनपर रुकी । दो औरतें उस डब्बेमे चढ़ आयी; और गाड़ी चल दी । दोनो ग्रामीण स्त्रियाँ, जो देखनेमे माँ-बेटी-सी लगती थी, थोड़ी-सी जगह पाकर एक ओर नीचे ही बैठ गयी । बूढ़ी स्त्री अब भी हाँफ रही थी और रह-रहकर लड़कीसे पूछती जा रही थी,

"पोटली रख ली ? घरके दरवाज़ेमे ताला ठीकसे बन्द कर दिया था ? बाबूके लिए रोटी बनाकर चूल्हेपर रख दी थी न, खुलो तो नहीं छोड़ दी?"

लड़की कौतूहलके साथ इधर-उधर देखती हुई सिर हिला-हिलाकर उत्तर देती जा रही थी ।

कुछ ही देर बाद हरनामगंज आ गया । लड़कियोमे-से एकने खिड़की से बाहर झाँककर देखा और अपनी सखियोसे पूछा,

"चाट तो नहीं खानी है?"

"क्यों नहीं, नेकी और पूछ-पूछ ! जाओ झटपट जाकर ले आओ ।" दूसरीने उत्सुकताके साथ कहा ।

"जी हाँ ! अकेली तो मैं जरूर ले आऊँगी ! खाना है तो साथमें चलो न !"

दूसरी लड़की मुँह बनाती और 'अ.....रे भई' कहती, उठनेमे बुढ़ियोकी भी मात कर देनेवाले कष्टका प्रदर्शन करती साथ हो ली । और लड़कियाँ भी शनीलके बैग उठा-उठाकर अपने दुपट्टे, जूड़े और साड़ियाँ ठीक करती नीचे प्लैटफॉर्मपर उतर गयी ।

नीचे बैठी बूढ़ी स्त्री भी उठकर खड़ी हो गयी। उसने एक बार घूर-कर उन लड़कियोंकी तरफ़ देखा फिर पानीकी खोजमें इधर-उधर दृष्टि दौड़ायी। उसकी लड़कीने ललचाकर चाटके पत्तोकी ओर देखते हुए पूछा,

“अम्माँ, मटर खाओगी ?”

“नहीं, मटर-वटर नहीं खाने हैं। कहीं पानी मिल जाता तो पी लेती। प्यास लगी है।”

“लोटा दो, मैं भर लाऊँ।”

“लोटा दो, मैं भर लाऊँ !” बुढ़ियाने चिढ़कर लड़कीकी बात दोहरायी, “गाड़ी छूट जायेगी तब ?”

“गाड़ी कैसे छूट जायेगी। वह लड़कियाँ भी तो खड़ी है।”

“उनसे तुझे क्या मतलब ? तू बैठी रह चुपचाप।”

लड़की मन मारकर चुप हो गयी।

लाल साड़ीवाली स्त्रीका बेटा सहसा चौककर जाग गया और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। चुप करानेके लिए बाँहोमें झुलाती हुई वह उसे बहलाने लगी,

“मेरा राजा बेटा ! न रो लालजी, न रो ! वह देख चिड़िया आयी.... चुप हो जा, राजे, चुप हो जा ! भूख लगी है लालजीको ? न रो, न रो.... पापाजीके पास जायेगा ? ‘ये’ तो जैसे जाके सो रहे हैं। मेरा तो इसे रोते देखकर दिल बैठ जा रहा है—हे भगवान्, क्या करूँ !”

वह उठकर खड़ी हो गयी। बच्चेको सुराहीसे चाँदीकी गिलसियामें पानी उँडेलकर पिलाया और बिस्कुटका टुकड़ा हाथमें पकड़ा दिया। बच्चा चुप हो गया। माँने उसे गोदमें लिटाकर बुनाई हाथमें ले ली और बच्चा बिस्कुट कुतरता हुआ, बाहर भागते पेड़ोंको देखकर प्रसन्नतासे किलकारी भरने लगा।

गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी। चम्पाकली बच्चेको गोदमें लिये-लिये थक गयी थी। उसने एक गन्दी पुरानी धोती नीचे बिछाकर सावधानीसे

बच्चेको उसपर सुला दिया। बच्चा नींदमें मुसकरा उठा, माँका हृदय उल्लाससे भर गया। उसने टाँगें फैलाकर सिर दरवाजेसे टेक लिया और आँखें बन्द कर लीं। पता नहीं वह कितनी देर तक ऊँघती रही। सहसा बड़े जोरसे किसी चीजके नीचे गिरनेकी आवाज आयी। एक साथ कई चीखें निकल गयीं। लाल साड़ीवाली स्त्रीके सामने बैठी महिलाने चिल्लाकर कहा,

“मार डाला, हाय हाय मार डाला ! मैंने डाइनसे पहले ही कहा था !”

चम्पाकली हड़बड़ाकर जाग गयी और पागलोंकी तरह आँखें फाड़-फाड़कर सन्दूक और उसके नीचे दबे अपने बच्चेको देखने लगी। कई हाथों ने मिलकर लाल साड़ीवालीका सन्दूक हटाया। सारी भीड़ उसी कोनेमें जमा हो गयी। नन्हा-सा बच्चा कुचलकर एकदम विकृत हो गया था किन्तु उसकी माँ न रोयी, न उसने बच्चेको छुआ, न किसीकी तरफ़ देखा, न संवेदनाके शब्द सुने। माथेपर बल डाले, नीचेके ओंठको कसकर दाँतोसे दबाये वह अपने बच्चेकी ओर इस प्रकार एकटक देखती रही मानो स्थिति को समझ ही न पा रही हो या समझकर भी उसपर विश्वास न कर पा रही हो।

“जंजीर खींच दो,” एक बूढ़ी स्त्रीने अपने आँसू पोछते हुए पास खड़ी युवतीसे कहा।

“बेकार है। गाड़ीने फाफामऊ कबका छोड़ दिया है। अब तो दो-चार मिनिटमें खुद ही प्रयागपर रुकेगी,” युवतीने भरी आवाजमें सलाह दी।

एक साथ बोलती हुई सब स्त्रियाँ हर प्रकारसे लाल साड़ीवाली महिला को दोष दे रही थी और वह अपराधीकी तरह घुटनोंपर सिर रखे स्तब्ध बैठी थी। उसका मन ग्लानि और वेदनासे भर गया। उसे लग रहा था मानो उस बच्चेकी हत्याके लिए वही दोषी है। किन्तु जब सारे डब्बेकी स्त्रियाँ उसे तिरस्कार, अवहेलना तथा घृणाकी दृष्टिसे देखती हुई उसे गालियाँ दे-देकर दोषी ठहराने लगी तो उसके मनसे अपराधका भाव धुल

गया और वह खिड़कीसे बाहर देखती हुई इस प्रकार सलाइयाँ चलाने लगी मानो भीतर जो दुर्घटना सहसा घट गयी थी उससे उसका कोई सम्बन्ध था ही नहीं ।

मृत बच्चेकी माँकी आँखें जैसे शवपर गड़-सी गयी थीं । वह वैसी ही स्तब्ध बैठी रही । स्त्रियाँ उसे चारों ओरसे घेरकर समझाने लगीं किन्तु वह तो जैसे पत्थरकी हो गयी थी । धीरे-धीरे डब्बे-भरमे मौतका सन्नाटा छा गया । यदि वह स्त्री रोती-चिल्लाती तो सब उसे सान्त्वना देतीं, लेकिन इस दशामे कोई क्या करती ? डब्बे-भरमें केवल एक ही आवाज आ रही थी : लाल साड़ीवालीके बच्चेकी किलकारियोंकी ।

सहसा पुलकी घडघड़ाहट मुनकर चम्पाकली चौकी । उत्कट घृणाके साथ उसने किलकारियाँ भरते उस बच्चे और उसकी माँकी ओर देखा फिर बिजलीकी-सी तेजीसे उठकर उसने बच्चेको उठा लिया । उसका हृदय तेजीसे धडक रहा था, आँखें अंगारोंकी तरह जल रही थी । खिड़कीके सामने अपनी उठी हुई बाँहोको क्षण-भरके लिए रोककर उसने क्रूर दृष्टि से बच्चेको इस प्रकार देखा मानो उसके बेटेका खूनी वही हो और फिर एक दृढ निश्चयके साथ गंगाकी लहरोंकी । इसे खेल समझ बालक हुमक कर खिलखिला उठा और पुलकित होकर हाथ-पैर उछालने लगा । उस स्त्रीके हाथ काँपे, पकड़ ढीली हो गयी और बच्चा फिसलकर पागलोंकी तरह आँखें फाड़े उसी ओर झपटती हुई लाल साड़ीवाली स्त्रीकी बाँहोमे जा गिरा ।

और तब मृत बच्चेकी माँने सिसकीके साथ झुककर अपने कुचले हुए बच्चेको बाँहोमे भींच लिया । उसके रक्तसे सने गालपर अपना गाल रखकर वह दहाड़ मारकर रो पड़ी ।



बेटेको वापसी

राधाकृष्ण-मन्दिरके दाहिनी ओर जो पतली-सी गली है उसमे पहला मकान कालीचरणका है। हलके पीले रंगसे पुता हुआ बड़ा-सा मकान जिसके लम्बे-चौड़े बरामदेमे नपी हुई दूरीपर रखे फूलोंके गमलोमे मौसमके अनुसार सदा एक ही प्रकार और एक ही रंगके फूलोंके पौदे लगे रहते थे। उस घरमे किसीने बच्चोंको ऊधम मचाते नही देखा, गली-मोहल्लेके किसी व्यक्तिको गृह-स्वामीके पास बैठकर हँसते-खिलखिलाते नही देखा, गृह-लक्ष्मीको पड़ोसिनोके साथ मिलकर औरोकी बहू-बेटियोपर व्यंग्य करते नही देखा। वहाँ जैसे सब-कुछ बन्धनोमे कसा है। मरी-मरी, दबी-दबी, धीमी-धीमी आवाजें। सिपाहियोंकी तरह अपने-अपने कामपर तैनात लोग।

लेकिन आज उस घरमे हर्षकी बाढ़के कारण सब-कुछ उलट-पलट गया है। कालीचरण बच्चोंकी तरह किलकते हुए गेंदेके फूल और आमकी पत्तियाँ तोड़ रहे हैं। बरामदेमे ढेर लग गया है किन्तु उनका जी नही भरा। अनुराधा मुबहसे चौकेमे बैठी लड्डू-मठरियाँ, सेब और गरीकी बरफी बना-बना कर डब्बोमे बन्द करके रख रही है—आज कोई उन चीजोको हाथ भी नही लगा सकता। कल्याणी सारे घरमे चहकती फिर रही है। बड़ा दायित्व है उसपर ! बुआ ठहरी ! मुन्नेके लिए खिलौने जुटाने हैं, भाभीके लिए कमरा सजाना है और भैयाके लिए ऐल्बम ठीक करके रखना है। इतने काम-काजके बीच माँका विकास और अमूल्यको खाना परोसनेके लिए पुकारना उसे बिलकुल अच्छा न लगा। जल्दी-जल्दी थालीमे खिचड़ी परोसकर अचार, चटनी, पापड़ और दहीकी प्लेटें दो छोटी चौकियोपर रख दी और अपने कमरेमें जाकर कपड़ेकी गुड़ियाकी आँखें बनाने लगी।

“पानी,” विकासने चिल्लाकर कहा।

“चीनी,” अमूल्यने चमचा आगे बढ़ाकर अपनी माँगपर जोर दिया ।

“कल्लो, पहले मेरे लिए”—सहसा पिताको कमरेमे आते देखकर दोनो लड़के सहम-सिकुड़कर बैठ गये । अमूल्यने अपने अधूरे वाक्यको सादर सुधारकर कहा,

“कल्याणी दीदी, थोड़ी-सी चीनी दहीमे डाल दीजिए ।”

कालीचरण अपनी चौकीपर बैठ गये । उनके दाहिनी ओर मँझले पुत्र विकासका पटरा था और बायी ओर छोटे अमूल्यका । उन दोनोंको जगह बदले देखकर उन्होंने टोका,

“यह क्या तमाशा है, ठीकसे अपनी-अपनी जगह बैठो !”

अमूल्यने पिताकी दृष्टि बचाकर विकासको ठेंगा दिखा दिया । बड़ी शानसे उसके पटरेपर जमा बैठा था ! अब मज्जा आ गया बच्चूको ! विकास के नन्हे स्वाभिमानको ठेस लगी । हिचकते हुए बहाना बनाया,

“पिताजी, मेरा पैर सो गया है । थोड़ी देर यहीं बैठकर खा लूँ ?”

कालीचरणको लगा जैसे दोनो लड़के अपने ऊपर पटरे रखकर बैठे हों या उलटी थालीमे भोजन कर रहे हों । मनमे बड़ी उलझन हुई । उठकर दोनोंको कान पकड़कर झकझोरा और एक-एक तमाचा लगाकर यथास्थान बैठा दिया । अनुराधाको बुरा लगा ।

“किसी दूसरेका बेटा सात साल बाद घर लौट रहा होता तो वह फूला न समाता लेकिन यह है कि सुबहसे वही हाय-हाय !” उसने मन-ही-मन सोचा किन्तु कहा कुछ नही । जानती थी कि उसने एक शब्द भी कहा तो सारे घरकी शामत आ जायेगी और अनुपमसे उसका दो घड़ी बैठकर बातें करना भी कठिन हो जायेगा । और फिर उसकी बहू क्या सोचेगी ? पराये घरकी बेटाके सामने इज्जत थोड़े ही देनी है । इनका क्या ! जब जीमे आता है, कहनी-अनकहनी सब कह डालते हैं । गुस्सेमे आकर बेटे या बहूको दस-पाँच मुत्ता दीं तो वह दुबारा घरमे झाँकेंगी भी नही ।

“अब तो अनुपम बहुत बदल गया होगा ?” उसने ध्यान बँटानेके

लिए कहा ।

“हाँ । तुम्हे याद है जब वह गोदमे था तो लोग हँसीमे कहा करते थे कि यह लड़का अस्पतालमें किसी अंग्रेज़के लड़केसे बदल गया होगा ? गोरा गुलाबी रंग, घुँघराले बाल, नीली आँखें ! जो देखता, देखता रह जाता था !”

माँको याद न होगा भला ! उसकी स्मृतिमे उसके सारे चित्र सुरक्षित थे । उन्हीके सहारे तो वह प्रतीक्षाकी लम्बी अवधि पार कर रही थी । हँसकर बोली,

“मुझे लगता है छोटा मुन्ना ठीक उसीकी तरह होगा । वैसा ही चंचल, वैसा ही भोला, वैसा ही सुन्दर । अच्छा, एक बात बताओ । बहू तो पढ़ी-लिखी ही होगी । तुमसे परदा नहीं करेगी और साथ ही बैठकर खाये-पियेगी ?”

कालीचरणने स्नेहसे गद्गद होकर उत्तर दिया,

“अनुपमकी माँ ! वह जो भी है, जैसी भी है, इस घरकी लक्ष्मी है । क्या जाने उसीके भाग्यसे हमारा बेटा हमे वापस मिल रहा हो । वह साथ बैठकर हँसे-बोले, खाये-पीये : यह प्रसन्नताकी ही बात है । हमारे लिए जैसी कल्याणी वैसी वह !”

“हाँ, सो तो है । मुझे तो रह-रहकर लगता है कि उसीने अनुपमसे यहाँ आनेके लिए ज़िद की होगी वरना इतने बरसोमे कभी वह अपनी राज़ी-खुशीका एक पोस्टकार्ड भी न डालता !”

अनुराधाने उठकर कमर सीधी करते हुए पूछा,

“खाना परोसूँ ?”

“नहीं, इस समय नहीं । अब तो रातमे अनुपमके साथ ही बैठकर खाऊँगा । ज़रा ठीकसे बन्दनवार लगवा दूँ और……”

“सब दरवाज़ोंपर लग गयी बाबू ! जो फूल बचे थे उनके मैने दो हार बना लिये । ये देखिए : एक भइयाके लिए, एक भाभीके लिए ।”

कालीचरणने हँसते हुए उसकी पीठ थपथपा दी और ठाकुरद्वारेकी ओर हाथ जोड़कर माथेसे लगाते हुए बोले,

“जैसी तेरी इच्छा प्रभु !”

उनके कमरेसे जाते ही कल्याणीने गुड़ियाके ऊपरसे रूमाल हटाते हुए उत्साहपूर्वक कहा,

“देखो जी, कितनी प्यारी बनी है ! लगता है अभी बोल देगी !”

“एकदम कल्लो परी !” अमूल्यने बहनको चिढ़ाया ।

विकासने उसके हाथसे गुड़िया छीन ली और उसे देखकर खिलखिलाने लगा । हँसते-हँसते पेटमे बल पड़ गये । चिढ़कर कल्याणीने कहा,

“पागल हो गया है क्या ?”

विकासने गुड़ियाको आगे बढ़ाकर कुछ कहना चाहा किन्तु बीचमे ही फिर हँसी आ गयी । किसी तरह एक हाथसे पेट दबाकर कुछ संकेत और कुछ शब्दोंमें बताया,

“गुड़ियाकी आँख……”

शेष वाक्य खिलखिलाहटमे डूब गया । इस बार अमूल्य भी मुक्त हास्यमे सम्मिलित हो गया और कूद-कूदकर चिल्लाने लगा,

“कल्लोकी गुड़िया कानी ! कल्लोकी गुड़िया कानी !”

कल्याणीने क्रुद्ध होकर अपनी गुड़िया वापस छीन ली और खिसियाकर पैर पटकती हुई काला डोरा और सुई लेनेके लिए कोठरीमें घुस गयी । भतीजेको क्या कानी गुड़िया देती वह !

कालीचरण इस शोर-गुलसे आकृष्ट होकर उस कमरे तक चले आये । परदा उठाकर भीतर झाँका तो दोनों लड़कोंकी हँसी अधरोंपर जम-सी गयी । संतुष्ट भावसे एक बार पिताकी ओर देखकर सिर झुका लिया । कालीचरण बच्चोंमे इस सहसा हुए भाव-परिवर्तनके कारण लज्जित-से होकर बोले,

“खेल रहे हो ? खेलो-खेलो ! मैं यह देखने चला आया था कि

कल्याणीने अपने बड़े भैयाके कमरेको कैसा सजाया है । बहुत अच्छा लग रहा है । तुम लोगोने उसकी कुछ मदद भी की, भैया जो चीजें लायेंगे वे तो बराबरसे बँटा लोगे !”

लड़के समझ नहीं पाये कि यह डाँट पड़नेकी भूमिका है अथवा पिताजी भी उन्हींकी भाँति बात-बातमे प्रसन्न होनेका बहाना खोज रहे है । काली-चरणको उत्तरकी अपेक्षा नहीं थी । वे सन्तुष्ट-से अपने कमरेमें लौट गये । अनुराधा अपनी खाटपर बैठी खरबूजेके बीज छील रही थी ।

“बहूको मुँह-दिखायी क्या दोगे ?” उसने पूछा ।

“अपनी जंजीर दे देना । एकदम नयी रखी है । छह-साढ़े छह तोलेकी है । ज़रा पता लगेगा कि सासने कुछ दिया !”

“हूँ । और तुम अँगूठी दे देना ।”

“क्यों नहीं ! अपनेसे कम तो दिलवाओगी ही जिससे तुम्हारा खूब आदर करे और मुझे कंजूस समझे !.....”

फिर सहसा कुछ खिन्न होकर बोले,

“पता नहीं कहाँकी है, किस जातकी है, कैसे घरानेकी है ! अनुपमने तो ऐसा नाता तोड़ा कि शादीपर एक कार्ड तक न डालते बना !”

“डरके मारे नहीं लिखा होगा । सोचा होगा तुम्हे लिखा तो तुम बुरा मानोगे । तुम्हारी जितनी इज्जत करता है उतना ही डरता भी तो है ! मैं तो सोचती हूँ कि बहू चाहे जैसी हो, बेटा घर लौटा यही बहुत है । अपने घर खुश रहेगे तो हमारा भी जी ठण्डा रहेगा । तुम इस बारेमे अनुपमसे कुछ कहना मत ।”

“नहीं जी, मैं क्या पागल हूँ ! कभी थोड़ा-बहुत गुस्सा आ जाता है यही मुझमे दोष है । लेकिन क्या करूँ, आदतसे लाचार हूँ । जान-बूझकर तो किसीसे कुछ कहता नहीं । तुम लोग इतना समझते हुए भी बुरा मान जाते हो !”

“आज मुझे बार-बार बह शाम याद आ रही है जब ज़रा-सी बातपर

विगडकर वह घरसे चला गया था। हमने कहाँ-कहाँ चिट्ठी-तार भेजे, अखबारोमे छपवाया, नाते-रिश्ते, जान-पहचानवालोके घर पुछवाया, लेकिन मेरे बेटेने ऐसा हठ ठाना कि कहीसे कोई खबर न लगने दी !....”

अनुराधाका स्वर बीते दुःख और प्रत्यक्ष सुखसे भोग गया। काली-चरणकी भी आँखे भर आयी। सफाई देते हुए बोले,

“तुम्ही बताओ अनुपमकी माँ कि मैंने ऐसा क्या किया था जो वह मुझसे इतना नाराज हो गया ? कहता था कि मैं पलंगपर बैठकर किताब पढ़ता हुआ ही खाना खाऊँगा। छिः छिः, विद्याका इतना अनादर ! उसपर तो उन दिनों भूत सवार था। जो कुछ मैं कहता था वह ठीक-उससे उलटा करता था। इसपर अगर मैंने दो-चार बातें कह भी दीं तो उसे उनका बुरा मानना चाहिए था ? आखिर मैं उसका बाप हूँ : जो कुछ करूँगा उसकी भलाईके लिए ही करूँगा।”

“खैर, हृद तो तुमने भी कर दी थी। क्या कसर बाकी रखी थी ? दिन-रात बेचारेके पीछे पड़े रहते थे। साफ कह दिया था कि इस घरमे रहना हो तो जैसे मैं रखूँ वैसे रहो, वरना निकल जाओ। उसने कुछ जवाब दे दिया तो तुमने बेंतसे उसे मारा। राम-राम, इतने बड़े लड़केसे कोई इस तरह कहता है !”

अनुराधाने बेटेका पक्ष लिया।

“अरे छोड़ो, अपने ही बेटा-बेटी इस तरह बुरा मानकर भागने लगें तो हो चुका फिर। हमारे माँ-बाप ज़रा-सी गलतीपर खाल उधेडकर रख देते थे, मगर क्या मजाल जो हमने कभी उन्हें उलटकर जवाब भी दिया हो।”

“वह ज़माना और था। मेरी माँ सुनाती है कि उनकी सास जब कभी दिनमे उन्हें खाली बैठे देखती थीं तो एक थालीमे दाल-चावल मिलाकर उन्हें फिरसे अलग-अलग करनेके लिए पकड़ा जाती थीं ! लेकिन छोड़ो इस पच्चेको। सात साल बाद भाग फिरे हैं, ठाकुरजी महाराजने जैसा हमारे

साथ किया वैसा सब किसीके साथ करें !”

कालीचरणने रातको स्टेशन जानेके लिए अपना सूट निकालकर टाँग दिया । तभी एक कोनेमें तिपाईपर रखी ऐश-ट्रे देखकर उन्हें ध्यान आया कि अनुपमके लिए सिगरेट नहीं मँगवायी । उनसे छुभाकर पीता था ताँ क्या ! बेटेके गुण-दोष उनसे छिपे नहीं थे । फिर आज उसकी सारी दुर्बल-ताएँ, सारे अपराध उनकी दृष्टिमें क्षम्य थे । वे खुद ही सिगरेट खरीदने चले गये ।

बीजोकी पिटारी खिड़कीपर रखकर अनुराधा थोड़ी देरके लिए लेट गयी । आँखें बन्द की तो लगा जैसे उलाहनों-शिकायतोंसे भरा अनुपम सामने आ गया । नन्हा-सा था तब ! नया-नया पढ़ना-लिखना शुरू किया था । कालीचरणने उत्साहके साथ उसकी कॉपीपर नाम लिखा, खाकी कागज चढ़ाया और हर पन्नेपर पृष्ठ-संख्या डाल दी । बरसातके दिन थे । धुँआंधार मेह बरस चुका था । घरके सामनेका नाला ऊपर तक भर गया था । अनुपमने अपने साथियोंको उसमें नाव चलाते देखा तो दौड़ा हुआ माँके पास आकर बोला,

“माँ, माँ ! कागज दे दो, हम भी नाव बनायेंगे !”

वह आटा सान रही थी । बोली,

“ज़रा रुक जाओ !”

लेकिन बालकको इतना धैर्य कहाँ ! चट अपनी कॉपीके बीचके चार पन्ने फाड़कर ले गया । दूसरे दिन सुबह पिताने जब गुरुका आसन सम्हाला तो इस अपराधके कारण मारते-मारते शिष्यको बेदम कर डाला । अनु-राधासे जब देखा नहीं गया तो आँसू पोंछती हुई कहने लगी,

“क्या दो कागजके टुकड़ोंके लिए बच्चेकी जान ही ले लोगे ? छोड़ भी दो बेचारेको !”

लेकिन कालीचरण क्रायदे-क्रानूनसे चलनेवाले व्यक्ति ठहरे । वे हर तमाचेके साथ अनुपमसे पूछते थे,

“बोल, अब ऐसा करेगा ?”

अबोध बालक इतना डरा हुआ था कि रोनेके अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही न था । इस घटनाके बाद कई दिन तक वह पत्नी-पुत्रसे नहीं बोले थे ।

एक दिन अनुपमको स्कूलका कुछ काम करके ले जाना था । उसका कलम नहीं मिल रहा था । मेजपर कालीचरणका कलम रखा देखा तो उसीसे लिखने लगा । काम कर चुकनेके बाद स्कूलकी जल्दीमे वह भूलसे कलम अपने बस्तेमे रखकर नहाने चला गया । इसी बीच कालीचरणका भी कलमकी आवश्यकता पड़ी और घर-भरमे उसकी खोज होने लगी । अनुपम नहाकर निकला तो घरका नक्शा बदला हुआ पाया । पिताने डपटकर पूछा,

“तूने मेरा कलम उठाया है ?”

डरके मारे उसने सिर हिलाकर नाही तो कर दी लेकिन फिर चिन्ता हुई कि पकड़े जानेपर क्या होगा ! अन्तमे बहुत सोच-विचारकर यह निश्चय किया कि पिताजीके दूसरे कमरेमे जाते ही कलमको मेजके नीचे डालकर वह खिसक जायेगा । लेकिन उसके दुर्भाग्यसे कल्याणीने खानेका डब्बा रखनेके लिए उसका बस्ता खोला तो अनायास ही वह चिल्ला पड़ी,

“पिताजी, कलम मिल गया !”

फिर तो अनुपमकी दुर्दशा हो गयी । मार तो पड़ी ही, ऊपरसे वह जब भी सामने आता, कालीचरण पूछते,

“कहो भइया, क्या चुरानेका इरादा है ? बताके ले जाना वरना बड़ी तकलीफ हो जाती है !”

या उसका मजाक उड़ाते,

“आओ आओ, सब लोग जरा चोर महाराजके दर्शन कर लो ! लेकिन अपनी जेबपर हाथ रखे रहना क्योंकि इस बीच शायद यह हुनर भी इन्होंने सीख लिया हो ! बेचारे जेल जानेका पक्का इन्तजाम कर रहे हैं । अच्छा

ही है भाई, कुलमे कोई सपूत तो हो !”

अनुपम यह सब सुनकर तिलमिलाकर रह जाता। माँको खूब खरी-खोटी सुनाता !

तब वह बड़ा हो गया था। दसवी कक्षाका विद्यार्थी था। छमाहीका परीक्षा-फल कई दिनसे उसकी किताबोमे दबा पड़ा था। आखिर एक दिन निकालकर उसने माँको पकड़ा दिया। इतिहास और नागरिक-शास्त्रमे फ़ेल था, बाकी विषयोमे भी बहुत खराब नम्बर आये थे। अनुराधाने व्यथित होकर पूछा,

“तू सारा समय क्या करता रहता है रे ? इस तरह पढ़ेगा तो कैसे काम चलेगा ?”

माँकी ममताने अत्यधिक मौन रहनेवाले किशोरको सहारा दिया। वह उसके कंधेपर सिर रखकर बोला,

“माँ मैं क्या करूँ ? किताब खोलता हूँ तो लगता है कि पिताजी दरवाजेमे खड़े मुझे घूर रहे हैं, पिताजी बरामदेमे किसी बातपर चिल्ला रहे हैं, पिताजी छुपकर देख रहे हैं कि मैं इतनी देरसे खाली सामनेकी दीवारकी तरफ देख रहा हूँ। हर समय मुझे यही डर लगता है कि वह मुझे डाँटने आये, बस अभी आये ! तुम्ही देखो, कल मिठाई खरीदनेमे कुछ देर हो गयी तो उन्होने कुत्तेकी तरह मुझे दुत्कार दिया और तुम्हे भी—”

“नही बेटा, ऐसा नहीं कहते ! वह तुम्हारे पिता हैं, कभी गलती करनेपर डाँट देनेका अधिकार उनको नहीं है क्या ?”

“गलती करनेपर ! जैसे सचमुच बेचारे इतना सोच-समझकर ही बिगड़ते हैं ! तुम तो उनका पक्ष लोगी ही ! मैं पहले ही जानता था कि तुमसे मनकी बात कहनेसे अच्छा है दीवारोसे कह दूँ। तुम लोग मुझे मिलकर कुचल देना चाहते हो, मिटा देना चाहते हो। वह मुझसे घृणा करते हैं और मैं तुम्हे साफ़-साफ़ बता दूँ कि उससे भी कहीं अधिक घृणा मैं उनसे करता हूँ। उनके साथ खाने बैठता हूँ तो खाना ज़हर हो जाता है। बात

करता हूँ तो इच्छा होती है कि ऐसी खरी-खोटी सुनाऊँ कि उनका जो जल जाये !”

सुनकर अनुराधा अवाक् रह गयी । किसी तरह बीचमे टोका,
“अनुपम, तू क्या कह रहा है ? पागल हो गया है क्या ? ना बेटा, यह सब नहीं सोचना चाहिए ! ऐसा कहना पाप है !”

उसी शाम पतिको परीक्षा-फल दिखाते हुए उसने कहा,
“मास्टरने किसी बातपर चिढ़कर फेल कर दिया। परचे तो उसने बहुत अच्छे किये थे !”

कालीचरण बिगड़कर बोले,
“जब किसी बातको समझा न करो तो व्यर्थ टॉग मत अड़ाया करो । मास्टर बेचारा क्या करेगा जब तुम्हारे मुपुत्र किताबोको हाथ ही नहीं लगाते ! छिः कितनी लज्जाकी बात है । मेरी पुरानी कॉपियाँ उठाकर देख लो । आज तक किसी टेस्ट तकमे फेल नहीं हुआ । इन नवाब साहबके अभीसे यह हाल है !”

कालीचरणको सचमुच बेटेकी असफलतापर दुःख हुआ । उन्हें लगा कि जरूर उसके पढ़नेके ढंगमे कुछ दोष है वरना छमाही इम्तहानमे फेल क्यों होता ! वे उसे सुधारनेकी इच्छासे उसके पीछे पड गये । वह अखबार पढता तो उसे सुनाकर व्यग्य करते,

“वाह, नागरिक-शास्त्र पढ रहे है !”

वह दोस्तोकी साथ हँसता-बोलता, घूमने जाता, सिनेमा देखता तो डाँटते,

“इसी तरह रंगरलियाँ मनाकर पास होंगे ? विद्या बडे संयमसे आती है बाबू साहब ! कॉफ़ी-हाउस और सिनेमा जा-जाकर पण्डित नहीं हो जाओगे ! न पढना, न लिखना : बस यहाँ गये, वहाँ गये । यही रंग-ढंग रहे तो जिन्दगी-भर किस्मतको रोओगे !”

कालीचरण स्वयं एक अत्यन्त निर्धन क्लर्कके चौथे पुत्र थे । सारी

पढाई वजीफे और ट्यूशनके बलपर पार की। पिता बेहद चिड़चिड़े और कठोर स्वभावके थे, माँ भी एकदम उनकी प्रतिच्छाया। अतः उस घरमे स्नेह-भरी, अपनत्व-भरी बातें कभी नहीं होती थी : सुनायी देती थी गालियाँ, व्यंग्य, उलाहने, अपशब्द ! इस वातावरणने कालीचरणके मनका सारा माधुर्य सोख लिया था। वे सीधी बात भी उलटे ढंगसे कहते थे। उनकी चाय पीनेकी इच्छा होती तो वे चाय बनानेको न कहकर यह पूछते,

“इस घरमे तो एक प्याला चाय भी नसीब नहीं होगी, जाये किसी होटलमे ही जाकर पी आयेँ !”

जिनके प्रति उनके मनमे असीम ममता होती उनके प्रति भी वे क्षण-भरमे इतने कटु, इतने विमुख हो जाते कि देखकर आश्चर्य होता। कुछ ऐसा ही उनके और अनुपमके बीच हुआ। अनुपम पिताकी छाया देखकर ही क्रोध और घृणासे कसमसा उठता, पिता पुत्रको सामने पाते ही व्यंग्य-बाण सम्हाल लेते—

“किसी तरह वे दिन भी बीत गये !” अनुराधाने ठण्डी साँस ली। कालीचरण सिगरेट खरीदकर लौट आये थे। उन्होंने सिगरेट-केसको माफ़ करते हुए कहा,

“अनुपमकी माँ ! जिस दिन अनुपम घर छोड़कर चला गया था उस दिन भी मुझे दुःख हुआ था, क्रोध आया था लेकिन मैं रोया नहीं था। आज तो बार-बार आँखें भर आती हैं। जो चाहता है खूब चिल्ला-चिल्लाकर रोऊँ !”

अनुराधाने गद्गद होकर कहा,

“कैसी बातें करते हो ! आजके दिन तुम बाजा बजवाओ, दिये सजाओ, मोहल्ले-भरमे मिठाई बँटवाओ। तुम्हे तो बेटा, बहू, पोता सब एक साथ मिल रहे हैं। कोई तुम-सा भाग्यवान् हो भी तो !”

“अब मेरी मूँछोकी शामत आ जायेगी !” कालीचरणको अपनी बाँहे अभीसे भरी-भरी लगने लगी !

शाम हुई। स्वागतकी तैयारियाँ पूरी होनेमें नहीं आ रही हैं। सारा घर प्रसन्नतासे जगमगा रहा है। अनुपमको जो कुछ पसन्द था वही भोजन बना है। बच्चोंने लाख कहनेपर भी भोजन नहीं किया। महरी आकर लौट गयी। जाड़ेके मारे उन्हें स्टेशन चलनेसे रोका, सो भी उन्होंने न माना। उनका यह हठ माँ-बाप दोनोंको भा रहा था, स्नेहकी गहराईको अभिव्यक्त कर रहा था न ! आज कालीचरणने सबको मनमानी करनेकी छूट दे डाली है।

गाड़ी समयसे स्टेशनपर आ गयी। कालीचरण आवेगसे काँपते पैरोंसे जल्दी-जल्दी बेटेको खोजने लगे। एक ओर खड़ी अनुराधा और बच्चे दृष्टि से उनका पीछा कर रहे थे। प्रथम श्रेणीके एक डब्बेसे वे लोग उतरे। माँने बेटेको दूरसे ही पहचान लिया। वह उधर लपकी। कालीचरणने भी उसे देख लिया था। पास आकर गलेसे लगाते हुए पूछा,

“अच्छे हो न ?”

अनुराधाने अनुपमको बाँहोंमें भरकर ऐसे चिपका लिया जैसे नन्हा बच्चा हो, कुछ कहते न बना। आँसू गालोंपर ढुलक आये, सुखके आँसू। बच्चे पास खड़े भैया-भाभीको देख रहे थे। बहूने हाथ जोड़े। कल्याणीने मोका पाते ही भतीजेकी तरफ बाँहे फैला दी, वह किलकता हुआ माँकी गोदसे कूद पड़ा। अमूल्य और विकास चुटकियाँ बजा-बजाकर उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगे।

अनुपमने एक बार उडती हुई सूनी दृष्टि अपनोपर डाली और सामान गिनकर कुलियोसे कहा,

“सम्हालकर उठाना। बढिया चमड़ेके बैग है !”

कुली सामान लेकर बढे। अनुराधाने पोतेको ले लिया। कल्याणी भाभीसे बातें करती हुई सटकर चलने लगी। रेशमी जॉर्जेटकी गुलाबी कामदार साड़ी, काले रंगका कोट, हाथोंमें ढेर-सी सोनेकी चूड़ियाँ, अँगूठियाँ, गलेमें एकदम नये ढंगका हार, कानोंमें बड़ी-बड़ी बालियाँ, कन्धोंपर

बिखरे कटें हुए बाल, होठोंपर गहरी लिपस्टिक और चेहरेपर रुखा, पराये-पनका भाव ।

“अम्मा, बबलू कितना प्यारा-सा है ! इसे कल मैं अपने स्कूल ले जाऊँगी !”

माँ हैंसी,

“भाभीको भी ले जाना । यह भी तो प्यारी-सी है !”

अनुपमको घुटन-सी अनुभव होने लगी ।

वह सबसे आगे हो गया । मनमे बरसोसे पल रहे क्रूरतम भाव व्यक्त होनेके लिए मचलने लगे ।

उसने कुलियोको प्रतीक्षालयमे रुकनेका आदेश दिया । सब ठिठक गये । वहाँ क्यों ? सीधे घर क्यों नहीं ?

“बस थोड़ा ही समय लूँगा,” अनुपमने कालीचरणसे कहा । कमरा खाली पड़ा था । उसने कुलियोको पैसे देकर विदा कर दिया ।

ऐटेचिकेस बीचकी मेजपर रखकर खोलते हुए उसने विषाक्त स्वरमे पितासे पूछा,

“और सुनाइए क्या हालचाल है ? बच्चे तीनों जिन्दा हैं, यह देखकर आश्चर्य हुआ ! आपकी कृपा-दृष्टि तो इनपर भी रहती ही होगी !”

कालीचरणको यह स्वर अनजाना-सा जान पड़ा । प्रसंग समझ न पानेके कारण वे हक्के-बक्केसे उसे देखते रहे, बोले कुछ नहीं । यह नहीं कि वे उसके विद्रोहसे अपरिचित थे : मूक रहकर अथवा दो-चार शब्दों मे ही वह कितनी गहरी चोट पहुँचा सकता है इसका अनुभव उन्हें था, किन्तु इस समय उस स्वरने उन्हें चकित कर दिया । अनुराधाको भी लगा जैसे वह युवक उसका अनुपम नहीं, कोई और है । मोह, माया, ममता—कही कुछ नहीं !

अमानुषिक गर्वका भाव अनुपमके चेहरेपर छा गया । मानो सफलता-पूर्वक पिताको बीधकर और माँको चौकाकर उसे बहुत सन्तोष मिला हो ।

उसने फिर व्यंग्य किया,

“कपूत जब कुछ करके दिखा देते हैं तो घरवालोंको बहुत सदमा पहुँचता है। है न ? मुझे आपके साथ पूरी सहानुभूति है, मगर किया क्या जाये। यह देखिए,” उसने बैंककी पास-बुक सामने बढाते हुए कहा, “तीस हजार कैश है। देख लीजिए वरना पीछे मुझे झूठा समझिएगा ! मेरी पत्नीके तनपर जो गहने हैं वे सब असली सोनेके हैं, गिलटके नहीं। बेतन और मुनाफा मिलाकर आठ-नौ-सौ रुपये महीना पड़ जाता है। गुजारेके लिए काफी है। वैसे आप यही सोच रहे होंगे कि इस निकम्मेने इतना सब हथिया कैसे लिया ! सब भाग्यका खेल है। आपने मिटानेमे कसर नहीं छोड़ी मगर बनानेवाला तो आपकी इच्छा देखता नहीं, अपनी-सी करता है।”

“तुम यह सब क्या बक रहे हो ? मैं तुम्हे मिटाना चाहूँगा !” अस्फुट स्वरमे कालीचरण बोले। अपमान और व्यथा उनके चेहरेपर साकार हो आये। आँखें फैल गयी और होठ काँपने लगे। उन्होंने ध्यानसे उसकी ओर देखा। कहाँ ! कुछ भी तो नहीं बदला था उसमे ! पुरानी कटु स्मृतियाँ सजग होने लगी।

एक दिन उन्हें दफ्तर जानेके लिए बहुत देर हो गयी थी। उन्होंने अनुपमसे पूछा,

“बेटा, तुम्हे कोई खास काम न हो तो तुम्हारी साइकिलपर चला जाऊँ ? बहुत देर हो चुकी है, रिक्शेके चक्करमे पैसे भी बेकार खर्च होंगे और समय भी काफ़ी लग जायेगा !”

साइकिल उन्हीने खरीदकर उसे दी थी, नामको गृहस्वामी भी वे ही थे ! किन्तु उत्तर मिला,

“मुझे एक घण्टे बाद कॉलेज जाना है। वैसे चीज आपकी है इसलिए मेरी सुविधा-असुविधा क्या ! आप अगर रोज़ इसीपर दफ्तर जाना शुरू कर दें तो भी मैं कुछ नहीं कह सकता !”

वे पैदल ही चले गये।

उन्हे जाड़ा देकर तेज बुखार चढा था और दर्दके मारे सिर फटा जा रहा था । अनुपमको पुकारकर उन्होंने कहा,

“जरा जल्दीसे जाकर डॉक्टरको बुला लाओ, बहुत तकलीफ है ।”

उसने बिना किसी सहानुभूतिके रूखे शब्दोमे सलाह दी थी,

“क्या कीजिएगा बेकार रुपये खर्च करके ! खुद ही तो कहते है तंगी है और खुद ही जरासे बुखारसे घबड़ाकर डॉक्टरको घरपर बुला रहे है !”

बुखार बढ़ता ही गया था । घबड़ाहटमे कालीचरणको मृत्युका ध्यान आने लगा । एक दिन उन्होंने अनुराधाको पास बुलाकर कहा,

“मेरी इच्छा है कि मेरा दाह-संस्कार बड़े विधि-विधानसे हो । अनुपम को सब समझा देना कि अगर भगवान्को यही मंजूर हो और मैं न रहूँ तो सब काम ठीकसे कर दे ।”

माँसे यह सुनकर अनुपमने जो कुछ कहा था उससे बीमार बाप काँप उठा था,

“पहले मरें तो किसी तरह ! अभी तो बरसो वे हम लोगोंकी छातीपर मूँग दलेंगे । मरनेकी बातें कह-कहकर डराते है !”

अनुराधाने बहुत बिगड़कर डाँटा था,

“भगवान् न करें कभी तुम्हारा दिया हम लोगोंको खाना पड़े । अभी तो वे अपनी रोटीके लिए तुम्हारे आगे हाथ नहीं फैलाते है, फिर तुम्हारी आँखोमे क्यों खटकते है !”

वह बात और उसकी तिक्तता मनसे निकाले नहीं निकली थी । आज भी उसका वही स्वर है, वही भावनाएँ, वही उच्छृंखलता !

अनुराधाको लगा जैसे सीनेमे कुछ चुभा और चुभकर भीतर ही टूट गया ।

“बेटा !” उसने चीखते-से स्वरमे अपने खोये पुत्रको पुकारा, “बेटा अनु !”

तीनो बच्चे सहमकर पास-पास खड़े हो गये । बहूने सासकी गोदसे बेटे

को ले लिया और एक आराम-कुरसीपर बैठकर उसे सुलाने लगी : जैसे वह कोई अन्य यात्री हो, इन सबसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं ! अपनी बातका इच्छित प्रभाव पड़ते देखकर अनुपमने और भी कटु होकर कहा,

“जो कुछ मैंने पाया उसके लिए सहा भी बहुत है । दिनको दिन नहीं समझा, रातको रात नहीं माना । धन-प्राप्तिके लिए उचित-अनुचित सभी साधन अपनाये । आपको तो शायद अनुचित साधनोमे विश्वास नहीं है ? सन्त ठहरे ! हमसे यह सब आदर्श कहाँ निभने थे ! मैंने तो पद-प्रतिष्ठाके लिए पात्र-कुपात्रके तलवे चाटे, सिर्फ इसलिए कि एक दिन आपके सामने सिर उठाकर आपको नीचा दिखा सकूँ । आप स्पष्ट जान ले कि मुझे आप लोगोकी ममता यहाँ नहीं खींच लायी, उत्कट घृणाने यहाँ लाकर खड़ा कर दिया । जबसे बड़ा हुआ आपसे उपेक्षा, उपहास और नियन्त्रण ही मिले । इधर मत बैठो, उधर मत जाओ, यह न करो, वह न करो ! हर कामके लिए, हर बातके लिए मुझे आपका मुँह जोहना पड़ता था । बाहरके संसार से हम लोगोका कोई नाता न था । घरमे जैसे केवल आप थे, हम सबपर बुरी तरह हावी !”

पत्थरमे तराशी हुई मूर्तिकी तरह कालीचरण स्तब्ध खड़े थे ।

“अनुपम ! हम लोग बुरे हैं, सात गैर हैं, फिर भी—”

“फिर भी कुछ नहीं माँ ! इस एक दिनके लिए मैंने बहुत कष्ट झेले हैं । जो कुछ कहना है वह कह लेने दो ! मुझे याद है कि एक शाम अपने चार-पाँच मित्रोको बड़े उत्साहके साथ घरमे चाय पिलानेके लिए ले आया था । आप उस दिन दफ्तरसे बहुत चिढ़े हुए लौटे थे अतः आते ही नादिर-शाही फ़रमान जारी कर दिया था कि लडके तो रोज़ ही जमा होते रहते हैं, निठल्लोंको और काम ही क्या, सिर्फ़ चाय भिजवा दी ! मेरा दुर्भाग्य कि चायके प्याले अपने कमरेमे ले जाते समय न जाने कैसे आपका चश्मा छू गया और वह गिरकर चटख गया । आप जानते थे कि जान-बूझकर मैंने यह नहीं किया था, फिर भी आपने सब मित्रोके सामने मुझे इतनी बुरी

तरह फटकारा था कि मैं उनके सामने सिर न उठा सका। और बताऊँ ? ये सब बातें तो मुझे ऐसी याद हैं जैसे कल ही घटी हों। सुबहका समय था। आप नहाने जा रहे थे कि अचानक ग्वालेने आवाज दी। आपने मुझे जगाकर लोटा हाथमे थमा दिया और दो सेर दूध लानेको कहकर चले गये। नीदके झोकेमे मैं लोटा लिये हुए ही फिर सो गया। उधर ग्वालेने कोहराम मचा दिया कि उसे घण्टा-भर खड़े हुए हो गया है पर कोई दूध लेने नहीं आ रहा है। माँ रसोईसे बाहर आयी लेकिन तबतक आप भी धोती लपेटकर गुस्सेसे भरे हुए गुसलखानेसे बाहर चले आये। मैं आरामसे पड़ा खरटि भर रहा था। आपने मुझे बुरी तरह झकझोर डाला। मैं डर के मारे चुपचाप पड़ा सोचता रहा कि आखिर यह अचानक हो क्या गया !.....यह एक दिनकी बात नहीं थी, रोज-रोजका किस्सा था !”

अनुराधा, जो आज तक पुत्रके कारण सदैव पतिको दोषी मानती रही थी, इस समय मौन न रह सकी। काँपते-से स्वरमे उसने पूछा,

“बेटा, बापके दुर्गुण गिना दिये यह तो बड़ा अच्छा किया। लेकिन वह रात शायद तुम्हे याद नहीं है जब एक गाँवके घरमे तुम बुखारमे अचेत-से पड़े थे और कोई सवारी न मिल सकनेपर तुम्हारे पिताजी पैदल बारह मील भागते हुए डॉक्टरको बुलाने गये थे ! यह भी तुम भूल गये होगे कि एक बार साइकिल खरीदनेकी तुम्हारी इच्छा थी, उसे पूरी करने मे इन्हे रत्ती-भर भी संकोच नहीं हुआ था जब कि उसके कारण सालो इन्हे पैदल दफ़तर आना-जाना पड़ा था ! हाँ, मैं जानती हूँ तुम सबसे और अपने मिलने-जुलनेवालोसे भी इन्होंने कहा था कि पेटकी तकलीफके कारण डॉक्टर ने पैदल चलना बताया है, पर वह गलत था ? तुम्हे कहनी सुनानी ही थी तो धर्म-लगती कहते। इस तरह बीच-बाज़ार बापकी इज़जत उतारकर तुम्हे क्या मिल गया ?”

अनुपमने माँको तीखी दृष्टिसे घूरते हुए उपहासके स्वरमे कहा,

“तुम भला पिताजीका पक्ष न लो यह कैसे सम्भव है। हमेशासे उनकी

हाँ-मे-हाँ मिलाती रही, उनकी चापलूसी करके उन्हें प्रसन्न रखती रहीं और झूठे वादोंसे मुझे बहलाती रही !”

कालीचरण मानो सहसा तन्द्रासे जागे । एक बार सिरसे पैर तक अनुपमको घूरकर देखा और बोले,

“और कहो सपूत, ऐसा मौका बार-बार हाथ नहीं आयेगा !”

“जी हाँ, आप ठीक कह रहे हैं क्योंकि अभी तीन घण्टे बाद ही हम लोग कलकत्ता वापस चले जायेंगे ! और इसके बाद भगवान् न करे ऐसा अवसर फिर आये !”

कालीचरणको लगा कि वे क्रोधसे पागल हो जायेंगे । जलती हुई दृष्टि बहू-बेटेपर डालकर उन्होंने अनुराधाका हाथ पकड़ भरिये स्वरमे बाहर निकलते हुए कहा,

“चलो या अभी और कुछ सुनना बाकी है !”

माने मुड़कर हमेशाके लिए बिछुड़ते हुए बेटेको देखना चाहा किन्तु उसकी धुंधली आकृति एक बार उभरकर आँसुओमे बह गयी ।

कल्याणीने नीदमे मुसकराते हुए भतीजेका मुँह चूम लिया और अपनी बेडौल गुडिया जल्दीसे उसके हाथोंमे दबाकर धीरेसे भाभीसे बोली,

“मैंने बबलूके लिए बनायी थी !”

एक-एक कर सब बाहर चले गये । विकास सबसे पीछे निकला । क्षण-भरको द्वारपर ठिठका फिर दौड़ता हुआ आकर भाईसे लिपट गया और सिसकता हुआ कहने लगा,

“भैया, हमसे आप बोले क्यों नहीं ?”

अनुपम अब भी पास-बुक हाथमे लिये बेसुध-सा खड़ा था । उसे लग रहा था कि सहसा पास-बुकपर लिखी संख्याएँ बचपनमे स्लेटपर लिखी संख्याओंके समान अर्थहीन हो गयी ! जिस दीवारको इतने वर्षोंकी कड़ी मेहनतसे उसने अपने चारों ओर खड़ा किया था वह अब उसे खोजनेपर भी कहीं नहीं मिल रही थी ।

उसने पास खड़े विकासकी स्नेह-माँगती आँखोमे देखा और उसे गोदमे उठाकर गलेसे लगा लिया। माथेपर पड़ी रेखाएँ और गहरी हो गयी, दाँतो के चिह्न होंठोपर उभरने लगे। भर्राये स्वरमे उसने पूछा,

“भाई मेरे, सच कहो क्या घरपर सब लोग मुझे याद करते थे?”

उत्तरमे नन्ही-नन्ही बाँहोने उसे कस लिया !

एक टूटी कुरसीके हथ्येपर पड़े गेंदेके दो हार हवामे झूल रहे थे। कल्याणीकी गुड़िया बबलूके हाथसे छूटकर जमीनपर गिर गयी थी !



चट्टानके नीचे

दवाइयोंकी गन्धमे बसा अस्पताल; रोगियोसे घिरा जीवन । नवजात शिशुओको ममतामयी बांहोसे घेरे गौरवशालिनी माताएँ, ठण्डी लाशें, असाध्य रोगोपर विजय पाकर परिवारके बीच वापस लौटती प्रसन्न स्त्रियाँ; और उन सबके बीच यन्त्रवत् चक्कर काटती मैं । आहो, चीत्कारो और कर्तव्योसे बँधा मेरा कुंवारा यौवन । जैसे मैं उन सबके लिए थी, मेरे लिए कोई नहीं । असम्पृक्त, औरोके सुखसे अछूती, औरोंके दुःखसे दूर । रोगियो के शरीरको जाँचते हुए हाथ, चीरते-फाड़ते, मौतसे निरन्तर लड़ते हुए हाथ, पराये शिशुओको स्पर्श करते हाथ, स्पन्दनहीन, भावनाहीन हाथ ।

लेकिन अनजान चेहरोके उस लम्बे काफ़िलेसे भी मेरी भावुकता कुछको अलग कर लेती थी; मनचाहे रंग भरनेके लिए ।

वह भी उनमे-से एक थी । अत्यन्त सौम्य और मधुर । सपनोमे डूबी-सी बड़ी-बड़ी आँखें, लाल पतले होठ और भोली-भाली आकृति । रंग गेहूँआ होते हुए भी बेहद आकर्षक ।

“तुम्हारा अनुमान ठीक है, तुम माँ बननेवाली हो ।”

रबरके दस्ताने वाँश-ब्रेसिनके पास खोलते हुए मैंने सोचा कि उसके चेहरेपर मुसकान अत्यन्त मोहक लगेली । लेकिन वह न जाने कैसी-सी हो उठी ।

“जी ?” जैसे उसे मेरी बातपर विश्वास न हुआ हो ।

उसकी पीठपर हाथ फेरते हुए मैंने समझाया, “डरनेकी कोई बात नहीं । अपने खाने-पीनेका ध्यान रखना और महीनेमे दो-एक बार अस्पतालमे अपनी जाँच करवाती रहना ।”

“आप निश्चयपूर्वक कह रही है ?” उसने फिर पूछा ।

बड़ा तरस आया बेचारीपर ।

गलियोंके अँधेरेमें...चाँदनीसे धुले एकान्त तटपर...शाम-ढले पार्ककी बेंचपर...किसी कैफ़ेके एकान्त कोनेमें...किसी सहेलीके बहाने पड़ोसके घरमें...एक-दूसरेसे मिलनेको आतुर दो छायाएँ !

“मुझे रत्ती-भर भी सन्देह नहीं है,” कहकर मैं स्क्रीनके पीछेसे कमरेमें जानेको मुड़ी, फिर अकारण ही टेबल तक लौट आयी । विचित्र-सी विवशता, कठुना और निराशा-भरी दृष्टिसे उसने एक बार मुझे देखा, फिर नीचे उतरकर सैण्डल बाँधने लगी । मेरी इच्छा हुई कि उसे रोककर कोई ऐसी दवा बता दूँ जो वह खिलखिलाकर हँस पड़े, लेकिन उसने मेरी ओर दोबारा देखा तक नहीं । गरदन झुकाये चुपचाप बाहर चली गयी ।

कभी-कभी, अकारण ही कोई कितना अपना लगने लगता है ! उस रात मैं बहुत देर तक उसके बारेमें सोचती रही । उसकी सन्तानके बारेमें, समाजमें उसके स्थानके बारेमें । मैंने तय कर लिया कि दवा तो दवा, वह अपनी अवैध सन्तानके लिए आश्रय चाहेगी तो वह भी मैं उसे दूँगी ।

और सचमुच दूसरे दिन सुबह वह मुझे फिर मिली । बँगलेसे निकलकर अस्पताल जानेके लिए पगडण्डीपर मुड़ी ही थी कि उसने आगे बढ़कर नमस्कार करते हुए कहा,

“क्षमा करिएगा डॉक्टर, राहमें रोककर आपको कष्ट दे रही हूँ, लेकिन न जाने किस अज्ञात प्रेरणासे मुझे ऐसा लगा कि आप मेरी बात समझ सकेंगी । अस्पतालमें मिलना नहीं चाहती थी इसीलिए बड़ी देरसे यही इन्तज़ार कर रही थी ।”

“कहिए ?” मैं रुक गयी ।

“बात यह है डॉक्टर, कि—क्या आपके पास ऐसी कोई दवा नहीं—”

आशय स्पष्ट करनेवाले उस वाक्यको उसने अधूरा ही छोड़ दिया । मेरे अन्तरकी नारीको डॉक्टरने क्लोरोफ़ॉर्म सुँधा दिया; उदासीन भावसे बोली,

“देखिए, मैं ऐसे केस हाथमें नहीं लेती ।”

वह लज्जित-सी होकर हाथमें लिये गुलाबकी पँखुड़ियाँ नोचने लगी । मेरे कुँवारेपनको उसकी छविसे ईर्ष्या हुई । कम्बखत कितनी मोहक लग रही थी !

“ऐसी भूल करनेसे पहले आगा-पीछा देख लेना चाहिए !” न चाहते हुए भी मेरे मुँहसे निकल ही गया ।

उसके चेहरेपर इस तेजीसे भाव-परिवर्तन हुआ जैसे किसीके सामने काँफ़ीका गरम प्याला बढाकर कोई अचानक चाँटा मार दे ।

“गलती !” उसने आहत, क्रुद्ध और आश्चर्य-चकित स्वरमे कहा, “आपका संकेत गलत दिशामे है । मैं विवाहिता हूँ ।”

“ओ लाइसेंसड करप्शन शायद भूल नहीं कहलाता !” मुझे न जाने क्या हो गया ।

सूनी-सूनी आँखोंसे उसने मुझे बौंध दिया । मन-ही-मन लज्जा और ग्लानिसे मैं भर उठी; लगा गलत स्थानपर आघात कर गयी हूँ । वह क्षण-भर मुझे उसी प्रकार देखती रही, तीखी घृणाके साथ । फिर कटु स्वरमे बोली,

“मेरे पति दो वर्षकी लम्बी बीमारी झेलकर हाल ही मे ठीक हुए हैं और मैं एक अस्थायी नौकरीको कसकर थामे हुए हूँ । जानती हूँ कि ज़रा भी पकड़ ढीली हुई कि नौकरी छूटी । आपके सन्तोषके लिए बता दूँ कि सत्य इतना ही है, डॉक्टर ! कोई सगा-सम्बन्धी नहीं, कोई अपना नहीं । दिन-भर खून-पसीना एक करके जो कमाती हूँ उसीसे उन्हें अबतक जीवित रख सकी हूँ—और मेरी नौकरी ! आठ-दस दिन भी अगर हेडमिस्ट्रेसके बच्चोंको पढ़ाने न जा सकी तो नयी अध्यापिकाको आते देर नहीं लगेगी । रातोंको मीठी किलकारियोंकी कल्पनासे मेरी नीद उचट जाती है, एक नन्ही चन्दन-सी सुगन्धित देहसे कमरा महकने लगता है, सपने जाग जाते हैं ! लेकिन—खैर, जाने दीजिए !” उसका स्वर कांपने लगा और पलकें भीग गयीं, “आपने ऐसी अभागी माँ कभी नहीं देखी होगी डॉक्टर, जो

अपने पतिको चिर-प्रतीक्षित सन्तानके आगमनकी सूचना तक न दे सके—
नन्हे प्राणोके स्वागतमे फैली जिसकी बाँहे सूनेमे फैली रह जायें.....”

सहसा उसके माथेपर लकीरें खिच गयी। लगा कि बलपूर्वक उसने
भावुकताको नियन्त्रित कर लिया।

“तो फिर क्या मैं आशा करूँ कि आप मेरी कुछ मदद करेंगी?”
उसने आग्रहपूर्वक फिर प्रश्न किया।

मदद ! कलसे मैं यही सोच रही हूँ कि मैं उसकी क्या मदद करूँ !
अभी कुछ ही देरमे वह फिर आती होगी। दवा लिख-लिखकर न जाने
कितने परचे मैं फाड़ चुकी हूँ। दवा लिखती हूँ तो अक्षर अबोध शिशु बन-
कर मुसकराने लगते हैं.....मुझसे उनकी हत्या करते नहीं बनता; और कलम
मेजपर रख देती हूँ तो दो बेहद आकर्षक उदास आँखें मेरे अन्तरको बोधती
हुई पूछती हैं,

“क्या आप मेरी कुछ मदद नहीं कर सकेंगी ?”

समझ नहीं पा रही हूँ कि सत्यकी हत्या करूँ या स्वप्नकी ! सुबह
कबकी हो चुकी है। बगीचेका गेट खोलकर वह भीतर आ रहा है।



नीलाम

गाड़ी जब बम्बईसे चली तब उस डब्बेमे यात्री सामानकी तरह भरे थे। लेकिन धीरे-धीरे सभीने अपने लिए थोड़ी-बहुत जगह निकाल ली और कोई बिस्तरपर पैर फैलाये, कोई खिड़कीपर सिर टिकाये, कोई सह-यात्रियोंपर गिरता-पड़ता ऊँघने लगा।

मैं अपने भाईके पाससे लौट रही थी। रात काफी बीत चुकी थी लेकिन मुझे नीद नहीं आ रही थी। तभी किसीने बहुत धीमे कांपते हुए स्वरमे किसीसे कहा,

“भइया, खिड़की बन्द कर दो ! सीनेमे बहुत दर्द हो रहा है, हवा लग जायेगी !”

इसके बाद विचित्र-सी घरघराहट ! किसीको जोरकी खाँसी आयी और उसके बाद कराहने और हाँफनेकी आवाज। मैं उठकर बैठ गयी। डब्बेमे दूसरी ओर कोई मरीज बैठा था। बिजलीकी पीली रोशनीमे ऐसा जान पड़ रहा था मानो कोई कंकाल कपड़े पहनकर बैठा हुआ हो। पीला रंग, दुबले-पतले हाथ-पैर, धँसी हुई बड़ी-बड़ी निरीह आँखें ! वह धोती पहने था और खादीकी गन्दी-सी बण्डी। उसका एक हाथ सीनेको दबाये हुए था और दूसरेपर सिर टेके वह हाँफ रहा था। शायद उसकी बात उसके साथीने नहीं सुनी। उसने फिर सीनेपर-से हाथ हटाकर उसे जगाते हुए कहा,

“भैया, ओ भैया ! खिड़की बन्द कर दो, बड़ा दर्द हो रहा है !”

उसका साथी उठा। आँखें नीदसे अलसायी हुई थी। खिड़की बन्द करते हुए उसने पूछा, “क्या ज्यादा दर्द हो रहा है ?”

“हाँ, दर्दके मारे सीना फटा जा रहा है।”

“लेट जाओ ! तुम्हारा बदन बहुत तप रहा है ! लो ये चादर ओढ़ लो मैं बैठा जाता हूँ !”

बीमार व्यक्ति लेट गया । फिर वही खाँसने और साँस फूलनेका क्रम ! तभी धीमी पड़कर गाड़ी रुक गयी और नये-नये यात्री भीतर भरने लगे । दो-एक लोग रोगीके पास आकर बैठ गये और अधिक स्थान पा लेनेके चक्करमे इस तरह फैल-पसरकर बैठने लगे कि रोगी अपने पाँव सिकोड़ने-पर बाध्य हो गया । उसने आगन्तुकोको लक्ष्य करके कहा, “बीमार हूँ भैया, लेटा रहने दो !”

दोनोमे-से एक सज्जनने अकड़कर कहा, “सोना होता है तो सेकेण्डका टिकेट लिया करो, झूठ-मूठ बीमार बनकर लेटे रहना तो बड़ा आसान है न !”

उसने हाथ जोड़कर दयनीय स्वरमे कहा, “नहीं भैया ! बहुत दर्द है, बैठा नहीं जा रहा था सो इन भैयाकी जगह लेट गया !”

और लोगोने भी उन लोगोकी ज्यादातीपर खीजकर कहा, “इतना बड़ा डब्बा है, इतनी जगह है—आप लोग पता नहीं क्यों उसी बेचारेके पीछे पड़ गये हैं । वह तो खुद ही मरा जा रहा है ! दूसरे लोगोको क्यों नहीं उठाते जाकर ?

वे दोनों भुनभुनाकर चुपचाप बैठ गये । मुझे भी नीद आ गयी, इस-लिए फिर क्या हुआ कुछ पता नहीं । लेकिन रात-भर बीच-बीचमे खाँसने की आवाज और रोगीका कराहना सुन पड़ता रहा । सवेरे जब मेरी आँख खुली तो वह कुल्ला कर रहा था और उसका साथी हाथमे गिलास लिये उसको पानी दे रहा था । तभी एक मुसाफिरने रोगीके साथीसे पूछा,

“इसे क्या बीमारी है ?”

“पुराना बुखार है ! दो साल हुए घरवालोंसे झगडकर बम्बई आ गया था । साल-भर तो कमाता-खाता रहा, फिर इसकी तबीयत खराब हो गयी । खाने-पीनेका कहीं ठिकाना नहीं था । खुद ही बनाता-खाता रहा,

बीमारीमे काम भी करता रहा, इसीसे तबीयत ज्यादा खराब हो गयी !”

“तुम्हारा कौन लगता है ?”

“हमारा कोई नहीं है बाबूजी ! हमारे गाँवका है, इसीसे उधरके हम सब लोग चार-छह महीने इसे खिलाते-पिलाते रहे और जो कुछ देशी दवा-दारू बन पड़ी वह भी करते रहे ! पर अब जब इसकी हालत ज्यादा खराब हो गयी तो ‘देश’के जितने जान-पहचानके थे सबने चन्दा करके इसे घर पहुँचानेका इन्तजाम कर दिया । हम वहाँ दरबानका काम करते हैं । बड़ी मुश्किलसे मालिककी खुशामद करके पाँच दिनकी छुट्टी पायी है । इसे घर पहुँचाकर फिर वापस लौट आयेंगे !”

“इसके घरमे कोई नहीं था जो आकर ले जाता ?” पास बैठे एक सज्जनने जिज्ञासा की ।

“ले कैसे जाता, भैया ! एक तो इन्होंने गाँव अपनी बीमारीकी चिट्ठी ही नहीं डालने दी, दूसरे बूढ़े बाप या छोटे-छोटे बच्चोंमे-से कौन बम्बई आकर इन्हे लिवा ले जाता ? और इसके अलावा वह लोग तो खुद भूखे मर रहे हैं, कहाँसे इतना पैसा पाते !”

यह सब बातें चल ही रही थीं कि गाड़ी इटारसी पहुँच गयी । बाहर प्लेटफॉर्मपर चाय और खानेकी चीजें बेचनेवालोंकी भरमार थी । रोगीके साथीने उससे पूछा,

“मैं खाने-पीनेका सामान लेने जा रहा हूँ, तुम्हारे लिए भी कुछ ला दूँ ।”

“हाँ, मुझे एक प्याला चाय ले दो,” रोगीने अपने जेबसे इकतरी निकालकर देते हुए कहा ।

‘गरम बढिया चाय !’वालेको रोककर रोगीके साथीने एक प्याला चाय लेकर रोगीको पकड़ा दी । वह बड़े मनोयोगसे चाय पीने लगा । पी चुकनेके बाद उसने प्याला चायवालेके हाथमें थमा दिया जिसे उसने धोने का अभिनय-मात्र करके भरकर दूसरे यात्रीकी तरफ बढ़ा दिया ।

गाड़ी फिर चल दी और रोगी अपने घुटनोपर सिर रखे कठिनाईसे साँस लेता और खाँसता रहा। इस तरह दस-पन्द्रह मिनट हो बीते होंगे कि एक व्यक्ति खिड़कीसे कूदकर चलती गाड़ीमें भीतर आ गया। वह कुरता और पायजामा पहने था। कन्धेपर एक अँगौछा पड़ा था और हाथमें बड़ा-सा कपडेका झोला। उसने भीतर पाँव रखते ही चिल्ला-चिल्लाकर कहना शुरू किया,

“भाइयो ! इस सुनहले मौकेको हाथसे न जाने दोजिए, नहीं तो जिन्दगी-भर पछताइएगा पर ऐसा माल न पाइएगा। चाहे जहाँ चले जाइएगा आप निराश लौटकर मुझे ही याद फरमाइएगा। भाइयो ! आजका यह नीलाम एक अजीब नीलाम है। आप भी क्या कहेंगे कि कोई दिलवाला मिला था ! मेरी हर चीजपर आप बोली बोलिए ! अगर मेरा दाम निकल आया तो ठीक, वरना मैं सबसे ज्यादा दाम लगानेवालेको कुछ इनाम देकर चला जाऊँगा। देखिए यह पेन्सिल ! अब लगाइए बोली—कोई नहीं बोलेगा ? क्या ? एक पैसा ! वाह भाई वाह ! एक पैसेकी पेन्सिल कभी देखी भी है ? खैर; जब और कोई नहीं बोल रहा है तो ले जाओ ! तुम्हारी तकदीर सिकन्दर है, इसे मुफ्तमें रख लो। हाँ, तुम भी क्या कहोगे, ले जाओ ! और यह रेशमी रुमाल—!”

किसीने कुछ नहीं कहा। केवल रोगीके साथीने खीसें निपोरकर कहा, “दो पैसा !”

नीलामवालेने आग्नेय नेत्रोंसे उसे देखकर पूछा, “क्या ? रेशमी रुमाल का दो पैसा ? हटाओ, रखो तुम्ही ! अरे बाबू, बाजारमें एक रुपयेसे कम का नहीं मिलेगा : मगर मैं तो इस समय लुटानेपर तुला हुआ हूँ !”

फिर उसने मामूली-सा एक टॉर्च, एक तेलकी शीशी, एक रद्दी रुमाल, दो पेन्सिलें, एक खराब-सा शीशा, एक कंधा, एक चाकू और एक साधारण-सी कैची निकालकर कहा,

“यह सब माल आप लोग बाजारसे खरीदिएगा तो तीस-पैंतीस रुपये

खर्च करके लौटेंगे। यह देखिए शीशा जिसके पीछे नरगिसका फोटो भी है, और यह रेशमी रुमाल जिसमें लाल परोकी तसवीर बनी है, यह टॉर्च जो सालों जलेगी, यह कैची जो हर घरकी शोभा है, यह चाकू जिससे आप कछुएकी पीठ तक चीर सकते हैं, और यह पेन्सिलें जो बारह-बारह आनेकी मैने खुद खरीदी है ! और यह दिलबहार तेल, इसका क्या कहना है ! हर तरहका सिर-दर्द इसे लगाते ही मिन्टोमें रफूचक्कर हो जाता है। आँखोंकी रोशनी बढ़ाकर, बालोंको चमकदार बनाता है। बोलिए ! कुछ भी दाम लगाइए। अगर कम होगा तो भी कुछ हर्ज नहीं, मैं इनाम देकर चला जाऊँगा !”

सभी लोग लालच-भरी दृष्टिसे सामानको देख रहे थे। पेन्सिल और रुमालसे उन्हें उतने सामानको भी मुफ्त पा जानेकी आशा बँध गयी थी। रोगी-मुग्ध-सा कभी साथीके रेशमी रुमालको देखता था, कभी नीलाम करनेवाले व्यक्तिको। उसके नेत्रोंमें उत्साह झलक रहा था। शायद वह उस सामानको मुफ्त पाकर घरवालोंको बाँटनेका स्वप्न देख रहा था। पत्नीके लिए तेल और कंधा, पिताके लिए टॉर्च, माँके लिए कैंची और चाकू, और बच्चोंके लिए पेन्सिलें ! अचानक उसने चिल्लाकर कहा, “पाँच रुपया !” और जीते हुए खिलाड़ीकी तरह चारों तरफ़ देखा। किसीने कुछ कहा नहीं। उसका साथी हँसता हुआ यह मनोरञ्जक कार्यक्रम देख रहा था।

सामानवालेने मुँह बनाकर कहा, “पाँच रुपया ! अरे जनाब, पाँच रुपयेका तो सिर्फ़ टॉर्च है टॉर्च !...हैं, पाँच रुपया ! खेल समझ रहा है !”

इतना कहकर उसने चारों तरफ़ देखा। सब मौन थे। सहसा उसने सिर झटककर कहा, “खैर, कोई बात नहीं...एक बार फिर घाटा ही सही...निकालो पाँच रुपया !”

इतना सुनते ही रोगीका चेहरा स्याह पड़ गया। उसने झेंपी हुई दयनीय दृष्टिसे सबकी तरफ़ देखा। किसीने कुछ नहीं कहा। उसका साथी

भी पूर्ववत् हँसता रहा ।

देर होती देखकर नीलामवाले व्यक्तिने नाक चढ़ाकर व्यंग्य किया, “जेबमे कुछ है भी या यूँ ही चले थे सेठजी बोली बोलने ? राम-राम ! बेकारका झण्ट खड़ा कर देते हैं ये लोग ! मैं तो पहले ही समझ रहा था कि ऐसेके पल्ले कुछ नहीं होता !”

रोगी खिसियायी हुई हँसी हँसता हुआ जेबमे हाथ डालकर इधर-उधर देखने लगा कि कोई उसे उस सौदेसे मुक्त करा दे, किन्तु सब चुप रहकर तमाशा देखते रहे । आखिर छातीपर पत्थर रखकर उसने एक पाँचका नोट जेबसे निकाला और उसे नीलामवालेके हाथपर रखता हुआ बोला,

“क्यों जान खाये जा रहे हो ? पाँच रुपया ही लोगे न कि और कुछ ?”

नीलामवालेने झपटकर रुपया लेकर अपनी जेबमे रख लिया और चलती गाड़ीमे खिड़कीसे उतरकर दूसरे डब्बेमे चला गया । अब सब यात्री रोगीकी खरीदी हुई चीज़े उससे छीन-छीनकर देखने लगे और तरह-तरहकी टीका-टिप्पणी करने लगे ।

एकने रुमाल छूकर कहा, “केला-सिल्क है, दो-ढाई आनेका होगा !”

दूसरेने तेलकी बोतल खोलकर ढेर-सा तेल हथेलीपर उँडेरकर खोपड़ी मे ठोंकते हुए कहा, “होगा तो मिट्टीका ही तेल, मगर लगाकर देखा जाये कैसा है !”

टॉर्चको हाथमे लेकर उसका साथी बोला, “यह तो आठ-दस आनेसे ज्यादाकी नहीं लगती । दस-पाँच बार भी नहीं जलेगी !”

कैचीसे फटा टुकड़ा काटनेका प्रयास करते हुए हम लोगोके पासवाले सज्जन बोले, “इसमे तो धार ही नहीं है, बिलकुल बेकार है !”

रोगी अपनी विवशता, परेशानी और मार्मिक पीड़ाको छुपाये हँस रहा था । आखिर जब सब चीज़ें परखी जा चुकी तो उसका साथी बोला,

“यह भी कितना मूर्ख है ! इसके पास किरायेके बाद बचे हुए सिर्फ छह रुपये दो आने थे । घरवाले इसके भूखे मर रहे हैं और इसने पाँच रुपये

इस कूडेपर बरबाद कर दिये !”

रोगी चुप बैठा था। भयंकर निराशा, कटुता और पीडा उसकी आकृतिपर स्पष्ट छायी थी। शायद वह उस क्षणको कोस रहा था जब उसने पाँच रुपयेकी बोली बोली थी, शायद वह अपने साथीको कोस रहा था जिसने समय रहते अपना मत प्रकट नहीं किया ! वह घुटनोंपर सिर झुकाकर बैठ गया। चारों तरफ लोग उसी तरह उसकी हँसी उड़ाते रहे। कुछ देर बाद जब कुछ शान्ति-सी छा गयी तो रोगीने अपना थका-सा उदास चेहरा ऊपर उठाया और बड़े करुण स्वरमे अपने साथी व सामनेकी बेंच-वाले यात्रियोंकी ओर देखकर पूछा, “क्यों भइया, क्या एलाहाबादके स्टेशनपर यह सब सामान तीन रुपयेका भी नहीं बिक पायेगा ?”

उसके स्वरमे कुछ ऐसा था जो मेरे हृदयमे बुरी तरह चुभ गया। लेकिन कुछ लोग फिर भी हँस दिये। इसके बाद वह चुपचाप चादर ओढ़कर लेट गया और एलाहाबाद तक किसीसे कुछ न बोला। आज भी उसका करुण स्वर मार्मिक पीडा तथा गहरी निराशाको अभिव्यक्त करता-सा कानों मे गूँज उठता है :

“क्यों भैया, क्या यह सब सामान तीन रुपयेका भी नहीं बिक पायेगा ?”



चार घर : एक नाग

गलीमें बर्फवालेकी आवाज सुनते ही लाला अमरनाथकी घरवाली शरबतका लोटा चौके और आंगनके बीचकी मुँडेरपर रखकर पत्ला सम्हालती हुई बाहर निकल आयी और उसपर बरस पड़ी,

“क्यों जी, अब सवेरा हुआ है तुम्हारा ? आज बच्चोंको तो शरबत मिला ही नहीं। थोड़ी देर और न आये होते तो हम लोगोने भी गरम ही शरबत पी लिया होता !”

“आज कुछ देर हो गयी माँजी...कितनी बर्फ है ?”

“क्या भाव है ?”

“वही चार पैसे सेर। जो भाव बाजारमे है वही आपसे लूँगा, कुछ ज्यादा थोड़े ही मागूँगा।”

“कौन कहता है बाजारमे चार पैसे बिक रही है ? तीन पैसे सेरका रेट है, उसी भाव देनी हो तो दे जाओ, नहीं तो रहने दो।”

“अरे माँजी, इतनी दूरसे ढोकर लाते है, गली-गली बेचते फिरते है : एक पैसेका फर्क तो भावमे होगा ही। खैर, आप तीन पैसे सेर ही ले लीजिए। कितने सेर तो लूँ ?”

“पहले देख लेने दो कि बर्फ कच्ची है या पक्की !” कहती हुई लाला-इन ठेलके पास आकर बर्फ देख मुँह बनाती हुई बोली,

“ये तो एकदम कच्ची है। अगर इस कोनेसे तोड़कर दो तो आधा सेर दे दो।”

“बस, आधा सेर ? कमसे-कम सेर-भर तो लीजिए, माँजी...आधा सेरमे क्या होगा ? यह लीजिए, इसी डलियामे रख दूँ ?”

“रख दो, मगर दूरसे डालना। मेरी धुली हुई डलिया छू मत लेना।”

ललाइन एक सीढ़ी उतरकर गलीमें आती हुई बोलों ।

गलीमें आवागमन शुरू हो चुका था । एक कोयलेवाला ठेला गलीके बाहर खड़ा करके धमकाते-से स्वरमें हाँक लगा रहा था : 'ले कोयला !' दहीवाला सिरपर हाँडी रखे चिल्ला रहा था : 'दही...ई...ई...य !'

ललाइनके सामनेवाले ऊपरके घरके कमरेसे पतला कर्कश स्वर सुनायी पड़ रहा था, "उठते हो कि यह बाल्टी तुम्हारे ऊपर उलट दूँ ! राम जाने कैसी नींद है ! सिरपर सूरज चढ़ आया, पसीने-पसीने हो रहे हो : लेकिन क्या मजाल जो उठ जाओ ! न बखतसे बजार-हाट जाओगे न दफ्तर...!"

उत्तरमें बैठे हुए-से गलेका अलमस्त, मिठासमें डूबा स्वर, "बस अब उठा ही समझो !"

"लो फिर करवट बदलकर पड़ रहे । पड़े रहो, अब मैं भी उठाने नहीं आऊँगी । कसम है तुम्हें जो नौ बजेसे पहले उठो !"

मुन्शीजी और मुन्शियाइनका यह प्रेमालाप इतना पुराना था कि अब इसका एक-एक अक्षर पड़ोसियोंको रट गया है । और मुन्शीजी तो इस मधुर संवादके इतने आदी हो गये हैं कि यदि भूले-भटके कभी मुन्शियाइन मैके चली जाती है तो उठनेसे पहले वे इस प्रेमालापको एकालापका स्वरूप देकर स्वयं ही बाँच जाते हैं ।

ललाइनने मुसकराकर सामनेकी छतकी ओर देखा, फिर नीचे पीपलके टूटे-फूटे चबूतरेपर-से फिसलती हुई उनकी दृष्टि हथेलीपर रखे पैसोंपर रुक गयी । वे चौकी । एक बार फिरसे भग्न चबूतरेकी ओर शीरसे देखा : कुछ काला-काला लहराता-सा जान पड़ा ।

"देख तो भइया, वह पीपलवाले चबूतरेपर क्या पड़ा है ?" उन्होंने बर्फवालेसे कहा ।

"नाग है !" उसने उस ओर देख पैसे जेबमें डालकर ठेला आगे बढ़ाते हुए वीतराग हो उत्तर दिया ।

"नाग है ? तो फिर जाके मार उसे ! आगे कहाँ चल दिया ? बाह्र रे

बरफवाले ! ठहर, मैं लपककर भीतरसे लाठी ले आऊँ तो तू उसे खतम कर दे भइया ! बाल-बच्चोंका घर ठहरा, न जाने कब किसे डस जाय !”

उन्होंने इस भावसे कहा मानो गलीके साँप मारना बर्फ बेचनेवालेका ही काम हो । किन्तु उसने अपने इस कर्तव्यके प्रति उदासीन होकर उत्तर दिया, “माँजी, वह चुपचाप चला जायेगा । किसीसे कुछ नहीं कहेगा । हम लोग तो नागको पूजते हैं, उसपर हाथ नहीं उठा सकते ।”

सुनकर ललाइनका पारा चढ़ गया । मुँह बनाकर बोली, “अरे जाने दे, यह ज्ञान किसी औरके आगे बघारियो ! डरके मारे प्राण अटके हैं, ऊपरसे बातें बना रहा है । हूँह, अपने-आपको समझता क्या है ? जहाँ मुर्गा नहीं बोलेगा वहाँ सवेरा नहीं होगा ? एक मोहल्लेवालेको आवाज दूँगी तो दस आकर खड़े हो जायेंगे……”

ललाइनकी चिल्लाहट सुनकर मुन्शीजी उठकर ऊपरके छज्जेपर निकल आये । एकतल्लेके पण्डित गयादीन भी कमरेकी खिड़की खोलकर झाँकने लगे । कुछ और लोग भी किसी रोचक प्रसंगकी आशामे अपने-अपने घरामे बैठे कान लगाकर सुननेका प्रयाम करने लगे । ललाइन मुन्शीजीको छज्जे पर खड़े देख, धोतीका पल्ला माथे तक खीचती हुई बोली,

“लो, मुन्शीजी आ गये, अब डरकी क्या बात है ! भइया, पोपलके नीचे नाग है, आधा बिलमे है, आधा बाहर । जरा जल्दीसे……”

बाहरकी हलचल मुन्शियाइनके कानो तक पहुँच चुकी थी । उन्होंने ललाइनकी बात काटते हुए भीतरसे पुकारा, “अरे सुनते हो, मुन्नी गिर पड़ी ! जल्दीसे इधर आके देखो कहाँ चोट लगी है !” और उनके पास आनेपर तमककर बोलीं, “चल दिये तुम ललाइनपर अपनी बहादुरीका सिक्का जमाने ! वह कहेगी तो तुम आगमे कूद पडोगे ? जो तुम उस मरे साँपको मारने गये तो सच कहती हूँ मैं जहर खा लूँगी ! मोहल्ले-भरमे तुम्ही बचे हो इस खतरको उठानेके लिए ? जायें न लाला, मारें जाकर अपने-आप ! कहाँ छुपे बैठे हैं ? तुम्हारे आगे क्या बाल-बच्चे नहीं हैं ?

तुम्हे मेरी कसम जो वहाँ जाओ !”

“अरे तो जा ही कौन रहा है ! मैं बाहर छज्जेपर-से तुमसे जो कुछ कहता जाऊँ, तुम हाँ-हूँ करती जाना । बस, आगे मैं निबट लूँगा । मैं क्या पागल हूँ जो काले नागपर चोट करने जाऊँगा । चोटियल होकर बच जाये तो खुद डसे, और मर जाये तो नागिन बदला ले !”

पत्नीको इस प्रकार समझाकर मुन्शीजी फिर छज्जेपर लौट आये । ललाइन पण्डित गयादीनसे कह रही थी, “पण्डितजी, रोज़ अखाड़े जाते हो, इतना घी-दूध खाते-पीते हो : किस दिन काम आयेगा ? आके एक हाथ ऐसा लगाओ कि साँप वहीका वही ठण्डा हो जाये ।”

पण्डितजी मरियल हँसीकी आडमे झेंपते हुए बोले, “शीताराम ! शीताराम ! माताजी, हमशे हत्या क्यों करवा रही है ? जान-बूझकर कभी चीटी तो मारी नहीं, फिर वह साँप ! शीताराम ! शीताराम !”

“बहुत ठीक कहा तुमने । मोरीमे मैंने ईट लगा दी है । इधर बढ़ता दिखायी देगा तो दरवाजा बन्द कर लेंगे ! हमे क्या फिकर है । जिसे डर हो वही मारे जाके !” पण्डिताइनने फुसफुसाकर पतिकी नीतिकी प्रशंसा की ।

तभी नाग कुछ हिलता-सा जान पड़ा । ललाइन लपककर अपने घरके दरवाजेके बीच जा खड़ी हुई । छज्जेपर-से मुन्शीजीने पत्नीको पुकारकर आदेश दिया, “सरला, ज़रा मेरी बन्दूक ढूँढ़कर दे जाओ । एक ही वारमे क्रिस्सा खत्म कर दूँ !”

“यही तो भइया—पहले नहीं सूझी, नहीं अबतक तो यह कबका परलोक सिधार गया होता !” ललाइनने बढ़ावा दिया ।

स्थितिको हाथमे आया जान, लालाका किरायेदार वीरसिंह ऊपरके कमरेसे झाँककर बोला, “जी हाँ मुन्शीजी, बन्दूकसे ही मारना ठीक होगा । बस ज़रा निशाना ठीकसे साधिएगा ! अगर आपका निशाना चूक जाये तो बन्दूक ऊपर मेरे पास भिजवा दीजिएगा, मैं ठाय कर दूँगा !”

मुन्शीजीने सिर हिलाकर सहमति दी । पण्डितजी गद्गद होकर बोले,

“मार डारो जल्दीसे ! खतरा तो तुम जानो हैइ है ! कभी रात-बिरात काट ले तो आदमी टें बोल जाये और किसीको कानोकान खबर तक न हो ! हाँ यह जरूर है कि हम इश पापके कामको हाथ न लगायेगे ।”

“भइया, बन्दूक मिली या नही ?” ललाइनने साँपपर-से दृष्टि हटाये बिना ही जिज्ञासा की । उनके डरका विशेष कारण यह था कि उनकी बैठकके दरवाजे और जमीनके बीच इतना अन्तर था कि साँप दरवाजा बन्द रहनेपर भी आसानीसे भीतर जा सकता था । मुन्शीजी अत्यन्त विनम्रतापूर्वक बोले, “बस, मिली ही समझिए ! सरला, भई ज़रा जल्दी करो न.....”

तत्पश्चात् मुन्शीजीने चौबारेमे खडे वीरसिंहपर अपना ध्यान अटकाते हुए कहा, “भई वीरसिंहजी, यह तो आपको मानना पड़ेगा कि साँप भी अद्भुत जीव है । एक बारका क्रिस्सा मैं आपको सुनाता हूँ, सुनकर हैरान रह जाइएगा । हुआ यह कि मैं एक रात शिकार खेलनेके लिए जंगलकी ओर जा रहा था । झाँझक चाँदनी छिटकी हुई थी और गुनगुनाता हुआ आगे बढ़ रहा था कि देखता हूँ एक धामिन सर-सर सामनेसे चला आ रहा है । आपको तो मालूम ही होगा कि उसका काटा पानी नही माँगता । बस, देखते ही मेरा खून सूख गया । लेकिन जनाब, हिम्मत आपकी कृपासे मुझ मे इतनी है कि भगवान् न करे शेर भी सामने पड़ जाये तो उसे भी काका-मामा बनाकर बच निकलूँ । सो....”

इस लम्बी कहानीसे चिढ़कर ललाइनने टोका, “जरा पूछकर देखना भइया, क्या मुन्शियाइन अपने-आप बन्दूक बनाकर ला रही है ?”

“सरला, जल्दी करो भई—कितनी देर लगाओगी ? साँप यह प्रण करके थोड़े ही डटा है कि मेरे हाथसे गोली खाये बिना हिलेगा ही नही !”

“देख तो रही हूँ । कहीं पता भी चले । तुम्हारी रखी चीज़ क्या कभी समयपर मिली है कि आज ही मिल जायेगी !” भीतरसे उत्तर मिला ।

वीरसिंहने मुन्शीजीको सम्बोधित करके पूछा, “भाई साहब, कहिए

तो यहीसे ताककर पत्थर फेंकूँ ! लग गया तो वाह-वाह, नहीं तो आपकी बन्दूक तो आ ही रही है !”

मुन्शीजीने स्वयं उत्तर न देकर प्रश्नसूचक दृष्टि ललाइनपर डाली । वे घबड़ाकर बोली, “यह अनर्थ मत कर डालना, नहीं तो बच गया तो एक-एकसे बदला लेगा ! किसीको भी नहीं छोड़ेगा ! तुम तो चौबारेपर चढ़कर उपदेश दे रहे हो और बीतेगी हमपर ! आजकलके लड़के मदद तो करनेसे रहे, बस काम बिगाड़नेमें तेज हैं !”

लालाजी डरके मारे अपना कमरा बन्द किये, पलंगपर चढ़कर बैठे काँप रहे थे और खिड़कीकी सन्धमें-से जो कुछ दिखायी पड़ रहा था वह दृश्य भी देखते जा रहे थे । किसीको सर्प-व्रधके लिए प्रस्तुत न देख वे क्रुद्ध हो मुट्ठियाँ बाँधकर बड़बड़ाये, “कोई साला मार नहीं डालता जाके ! सब खड़े-खड़े बातें बना रहे हैं : निकम्मे, डरपोक कहींके !” साँपके स्मरण-मात्रसे उन्हें रोमाच हो आया ।

मुन्शीजीने फिर पुकारकर पूछा, “अरे भाई, न मिल रही हो तो तैसा बताओ । कोई और इन्तजाम किया जाये ।” ललाइन, इस मौकेपर लाला को ही बुलाइए, उन्हें तो देखते ही साँप भाग जायेगा !”

सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े । तिलमिलाकर ललाइन बोली, “अरे भइया, जो उनका जी ठीक होता तो फिर रोना ही काहेका था । बेचारे बुखारमें पड़े हैं ! कोई जाकर लाठीसे मार दो, डरनेकी क्या बात है भला !”

तभी पासमें घमा-चौकड़ीकी आवाज सुनकर सबने देखा कि ललाइन का छोटा लड़का, मुन्शीजीकी इकलौती बेटी, और पण्डितजीका पुत्र — तीनों बस्ता लटकाये हँसते-खिलखिलाते भागे चले आ रहे हैं । सब लोग सन्न रह गये । ललाइन आगे बढ़कर चिल्लायी, “अरे, इधर न आना, साँप है !”

“वही रुके रहो,” मुन्शीजीने घबड़ाकर कहा ।

“पीछे हट जाओ, और पीछे !” पण्डितजी लाठी लेकर बाहर निकलते हुए बोले ।

“आज बड़ी बहिनजीने हम लोगोंको छुट्टी दे दी,” मुन्शीजीकी लड़की ने मुँहके दोनों ओर हाथ लगाकर जोरसे चिल्लाकर सूचना दी ।

मुन्शीजी लपककर बन्दूक निकाल लाये । लाला मसहरीका बाँस लिये अपने घरके चबूतरेपर खड़े होकर औरोके साँप मारनेकी प्रतीक्षा करने लगे । तबतक साँप लहराकर बिलमे घुस चुका था ।



अरसिकेषु कवित्त
[व्यंग्य]

बहुजन हिताय

मेरे विचारसे पड़ोसियोंके कुछ अधिकार ऐसे हैं जो कानूनन उनके मान ही लिये जाने चाहिए । अन्धेरे हैं भाई साहब कि बातें तो आप लम्बी-चौड़ी करते हैं, अन्तर्राष्ट्रिय बन्धुत्वके स्तरकी, किन्तु स्वयं अपने स्नेहशील पड़ोसियोंके अधिकारोंकी उपेक्षा करते हैं । मैं इस स्वार्थपरताके सर्वथा विरुद्ध हूँ और चाहती हूँ कि पड़ोसियोंके निम्नलिखित अधिकारोंके प्रति आप भी पूरी आस्था रखें :

पहला—

यदि सूर्योदयके साथ ही आपका मकान कण्डेके धुएँसे भर जाये और आपकी साँस घुटने लगे तो आप सबसे काम लें । आपको छूट है कि आप अपने घरमे चाहे लकड़ी जलायें या कच्चा कोयला, लेकिन अगर पड़ोसी के चार पैसे कण्डा जलानेसे बचते हैं तो आपके कलेजेपर साँप क्यों लोटता है ?

दूसरा—

यदि पड़ोसी आपपर पूरी तरह निगरानी रखें तो आप इसे अपना सौभाग्य मानें । यदि आपके घर कोई आता है तो यह पड़ोसियोंका अधिकार है कि आपसे पूछें कि अमुक व्यक्ति कौन है ? कहाँसे आया है ? कबतक ठहरेगा ? विवाहित है या क्वारा ? क्वारा है तो अबतक विवाह हुआ क्यों नहीं ? नौकरी करता है या नहीं ? यदि नौकर है तो वेतन कितना पाता है ? आपसे उसका नाता क्या है ? या परिचित है तो कब और कैसे परिचय हुआ ? उसके परिवारमें कौन-कौन है ? परिवारके सदस्योंके साथ उसके सम्बन्ध कैसे हैं ? यदि विवाहित है तो उसकी ससुराल कहाँ है ? उसका रहन-सहन कैसा है ? क्या खाता-पीता है ? उसका नाम क्या है ?

किस जातका है ?

जी नहीं, आप इस मुग़ालतमें न रहें। पड़ोसीकी मन्शा न आपके अतिथिको दावत देनेकी है, न उसके साथ अपनी लड़कीकी सगाई करनेकी। यह सब तो केवल इसलिए पूछ लिया कि पूछ ही लेना चाहिए। न पूछनेपर आप उनकी उदासीनताका बुरा नहीं मानते ? इसके अतिरिक्त आप स्वयं कब कहाँ आते-जाते हैं, किन लोगोसे मिलते हैं, उनकी पत्नियोंका आपके प्रति क्या रुख है तथा आपके मिलनेवालोंके प्रति आपकी पत्नीका क्या रुख है, इन सब बातोंकी खोज-खबर भी पड़ोसी आपकी भलाईका ध्यान रखते हुए ही रखते हैं। यह बहुत आवश्यक भी है। बल्कि मेरे खयालसे तो अगर आपके घर आनेके लिए आपके मित्र या सम्बन्धियोंको पड़ोससे 'परमिट' बनवाना पड़े तो, जनाब, दुनियामे ये जो पाप और अन्धेर फैला है वह जड़से नष्ट हो जाये।

तीसरा—

आपको अपने बच्चों और पड़ोसीके बच्चोंमें कोई भेद-भाव न रखना चाहिए। 'लव दाइ नेबर !' मैंने अकसर देखा है कि लोग अपने बच्चोंको तो बिल्लेकी तरह चिपकाये घूमते हैं लेकिन जहाँ पड़ोसिनने कहा, "नीलूके पिताजी, आपसे हमारा मुन्ना बहुत हिला है। जबसे सुना है कि आप और बहिनजी सिनेमा जा रहे हैं, बैठा रो रहा था। मैंने कहा कि रोनेकी क्या बात है, चाचाजी कोई पराये तो हैं नहीं, तू भी साथ चला जा ! तब कहीं चुप हुआ !"

अब बोलिए आप क्या जवाब देंगे ? एक तो महिला, दूसरे पड़ोसिन, तीसरे आप उसके पुत्रके चाचा ! लेकिन घबड़ानेकी क्या बात है ? बच्चेको साथ ले ही जायेंगे तो क्या ग़ज़ब हो जायेगा ! अगर रोयेगा तो इष्टरवलसे उठकर चले आइएगा। पिकचर ? अब जनाब आप तो दीन-दुनिया दोनोंपर नज़र रखते हैं। पिकचर पूरी न देखनेसे आपका वज़न तो घट न जायेगा ! बाक़ी आधी फिर किसी दिन सही !

चौथा—

यह आप कभी न भूलें कि आपपर तथा आपकी हर चीज़पर पड़ोसियोंका पूरा अधिकार है। यह आपका कर्तव्य है कि फ़र्नीचर, क्रॉकरी, मैशीन, साइकिल, मोटर, रेडियो, पंखा, या राशन—जो कुछ भी आप खरीदें, न केवल अपनी ज़रूरत देखकर लें वरन् पड़ोसियोंकी आवश्यकताका भी पूरा ध्यान रखते हुए लें। अगर पड़ोसीको आइसक्रीम खानेका शौक है तो आप आइसक्रीमकी मैशीन और कट-ग्लासके सुन्दर-सुन्दर प्याले मँगवाकर अवश्य घरमें रख लें। अगर पड़ोसीके पास वाहनके नामपर केवल साइकिल है तो आप जहाँतक हो सके जल्दीसे-जल्दी मोटर खरीदनेका प्रयास करें। यदि पड़ोसीके घरमें छतका पंखा हो तो आप मेज़पर रखनेवाला पंखा लें और फ़र्नीचर तो आप हर दशामे ऐसा लें जो आसानीसे इधर-उधर ले जाया जा सके। कहनेका तात्पर्य संक्षेपमें यह है कि आप जो कुछ खरीदें स्वार्थ-भावनाको त्यागकर 'बहुजन हिताय' ही खरीदें।

पाँचवाँ—

इस नश्वर संसारमें अपना कहने लायक कुछ भी नहीं है, इसलिए किसी चीज़से मोह करना मूर्खता है। इस तर्कके आधारपर मैं यह सलाह दूँगी कि आप अपने पैसेसे मँगवाये हुए अखबारों तथा किताबोंके प्रति कभी मोह न रखें, क्योंकि उन्हें माँगकर ले जाना और फिर लौटानेके बारेमें बिलकुल भूल जाना—यह पड़ोसियोचित ही है। आप गयी हुई किताबोंकी यादमें कभी मन भारी न करें।

छठा—

अपने बगीचेमें फूले फूलों, लगी तरकारियों और फले फलोंको देखकर हर व्यक्ति सुख पाता है। वे फूल, अन्य फूलोंसे भिन्न लगते हैं, उन तरकारियों और फलोंमें एक अपनी ही मिठास होती है। अब यदि पड़ोसी आपको अपना मानते हों और वे आपके बगीचेको आप ही की दृष्टिसे देखते हों तो इसमें उनका क्या दोष? अपनी चीज़ मानेंगे तो उसे तोड़कर उपयोगमें

लानेके लिए क्या वे बार-बार आपसे पूछने जायेंगे ?

सातवाँ—

पड़ोसीके घर नौकर हो या न हो, यह उनका अधिकार है कि वे महज आपके बच्चोको कर्मठ बनानेके विचारसे आँधी-पानी, लू-धूपमे अपनी फ़रमाइशें पूरी करनेके लिए उन्हें बार-बार बाज़ार तक दौड़ायें। उनके घर मेहमान आयेंगे तो आपका लडका अगर दौड़कर पान या शरबत बनाने के लिए बर्फ़ ले ही आयेगा तो क्या उसके पैर घिस जायेंगे ?

आठवाँ—

पड़ोसीके ख़ूब तेज़ स्वरमे रेडियो सुनने या घिसे हुए पुराने बहारदार रेकार्ड बजानेपर आप कभी अपनी नाक न चढ़ायें। आप यदि इतने मनहूस है कि घोर चाँदनीमे पैर फैलाकर सोना या कुरसीपर बैठकर किताबें पढ़ना चाहे तो, जनाब, ज्यादाती आपकी ही है। इससे कही अच्छा यह है कि आप भी झूम-झूमकर 'जादूगर सइयाँ, छोड़ मेरी बहियाँ,' 'रेशमी सलवार कुरता जालीका, रूप सहा ना जाय नखरेवालीका', 'मैं हूँ फुलझड़ी, तू है शोला, आग लगाये जा', 'एक दो तीन, यह दिल गया चीन', 'ईना मीना डोका' आदि भजन विकार-रहित मनसे सुनें।

नवाँ—

अगर आपके घरमे टेलिफ़ोन या मोटर हो तो आप उनको सार्वजनिक सम्पदा मानें। आप भरी-नोदमे हों या थके-हारे बैठे चायका सुख ले रहे हों या फिर पत्नीसे झगड़कर मुँह फुलाये बैठे हों, किसी भी दशामे पड़ोसियोंके मोटर माँगनेपर आप 'ना' करके अपना इहलोक न बिगाड़ें। रातमे ट्रंक-कॉल आये या फिर दिन ही मे बारम्बार पड़ोसियोंको पिकचर-हॉलमें लगी पिकचर या गाड़ीका समय जाननेकी इच्छा हो अथवा केवल 'हाल-चाल' पूछनेके लिए मित्रोंसे सम्पर्क स्थापित करना चाहें तो आप इसका स्वप्नमें भी बुरा न माने क्योंकि इहलोकमे ही नहीं, परलोकमे भी आपके बारेमे पड़ोसियोंके मतका महत्त्व अवश्य होगा।

दसवाँ—

यदि आपकी पत्नी अकारण आपसे रुष्ट होकर खरी-खोटी सुनाने लगे तो आप यह निश्चित रूपसे जान लें कि आपके घरमे पडोसीकी पत्नीका प्रवेश अवश्य हुआ है। वैसे आपपर व्यंग्य करने और चार बातें सुनानेके लिए पडोसीको इस माध्यमकी विशेष आवश्यकता नहीं है। आपपर ताने कसने, आपके रहन-सहनपर अपना मत प्रकट करने, तथा आपके विचारोकी अपने ढंगसे व्याख्या करनेका पूरा अधिकार आपके पडोसीको भगवान्ने दिया है। इस दैवी शक्तिसे आप डरें तथा उसका समुचित आदर करें, अन्यथा इससे विमुख होनेपर आपकी जो भी दुर्दशा हो, थोड़ी है।



कहो तो मुश्किल न कहो तो मुश्किल

सुबहका समय । ठण्डी-ठण्डी हवा । मेज़पर गरम चायका प्याला । बिना किसी तुलनात्मक भावके उसकी प्रशंसा करता हुआ पति । सब कुछ ठीक-ठीक ही था, लेकिन शायद नक्षत्रोंमें कहीं कुछ गड़बड़ी थी जो चाय ओठोंसे लगी ही थी कि सामने बच्चों और सामानसे लदे दो तांगे द्वारपर रुके और दीपा मौसी मुझे बरामदेमें बैठी देख लपककर मेरे गले आ लगी ।

दीपा मौसी मेरी अम्माकी दिवंगत सखीकी दूरके रिश्तेसे मौसी लगती थीं, लेकिन बेचारी हम लोगोंको मानती बहुत थीं, खासकर तब जब उनका कुछ काम अटकता था । उलाहना देती हुई बोलीं,

“क्यों री, कभी चिट्ठी तक नहीं लिखती मौसीको ! वह तो मैं ही थी जो तेरा पता पूछ-ताछकर यहाँतक आ पहुँची । आ रेवा आ न ! शोभा, अन्नू, बिट्टो, चुन्नू, बिल्लू—सबको भीतर ले आ ! तांगेमें चढ़ी क्या बैठी हो ?... बड़े शरमीले बच्चे हैं ! पगले कहीके ! यह नहीं समझते कि तेरा घर तो उनके लिए अपने घरसे भी अधिक अपना है ।”

फिर बिना सांस लिये और बिना मुझे स्नेह व्यक्त करनेका अवसर दिये वे भीतर गयीं, कमरोंका निरीक्षण किया और सामान उतरवाकर सबसे बड़े कमरेमें लगवाने लगीं । मैंने साहस करके निवेदन किया,

“मौसी, घर बहुत ही छोटा है । इसी एक कमरेमें...”

मैं कहना चाह रही थी कि इसी एक कमरेमें इतनी जगह है कि सब लोग उठ-बैठ सकते हैं इसलिए उनका सामान साथके छोटे कमरेमें लगवा देती हूँ । लेकिन वह काहेको सुनतीं । चट ममता-भरे स्वरमें बोलीं,

“अरी रहने दे, बातें बना रही है । घर छोटा है तो क्या हुआ, हम

लोगोंके लिए तो यह कमरा काफ़ी है ।”

“लेकिन मौसी,” मैंने फिर दुस्साहस किया । उन्होंने फिर मुझे रोक दिया; बोलीं,

“लेकिन-बेकिन कुछ नहीं । आखिर जगह बढ तो जायेगी नहीं । थोड़े में गुजारा कर लेंगे । दो-एक महीनेकी तो बात है, कौन ज़िन्दगी-भर रहना है !”

अब इस उदारताके आगे कोई बोले भी तो क्या ! शासनकी बागडोर अहसान जताते हुए उन्होंने अपने हाथमें ले ली । खाना बनाती मैं : बनता उनकी इच्छासे ! बाहर उन्हें रोज़ घुमानेके लिए ले हम जाते : आग्रह उनका रहता, और न ले जानेपर शिकायत ! चीज़ें वे खरीदतीं : भुने हुए नोट न होनेके कारण पर्स हमारा खाली होता ! कभी-कभी ऊबकर हम लोग सोचते कि मौसी और उनकी सेनासे बचकर कहीं घूम आयें, लेकिन उन्हें घरमे अकेली छोड़ना भी एक विकट समस्या थी । उन्हें ज़रा भी मौका मिलता तो वे और उनके बच्चे मिलकर सारा घर उलट-पलट कर डालते । एक दिन झुंझलाकर पतिदेव मुझसे बोले,

“तुम अपनी मौसीसे कह दो कि मेरे सामानमे हाथ न लगाया करें । तमाशा बना रखा है घरको । रैकपर मेरे जूते रखे थे : सब झोलोंमे भर-भरकर खूँटीपर टाँग दिये । उनके लड़के हमेशा मेरी साइफिलके पीछे पड़े रहते हैं । ब्रेक तोड़ दिये, सीट फाड़ दी और इस समय बैठे उसके पैडलको हथौड़ेसे ठोंक रहे हैं । उनकी बड़ी बिटियाने अलमारीमें जगह करनेकी शरज़से मेरी क्रीमजोंको कोनेमें घास-फूसकी तरह भर दिया । हद है इस तानाशाहीकी ! अपने ही घरमें मेहमान बना डाला मुझे तो ! मैं तुमसे साफ़ कहे देता हूँ—”

“लेकिन आप ही उन्हें क्यों नहीं समझा देते ?” मैंने पूछा !

“यह सब मेरे बसका नहीं है । तुम्हीं कह दो,” उनका आदेश हुआ ।

“जी हाँ, मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू ! मैं इस झगड़ेमें नहीं

पड़नेकी । दस-पाँच दिनकी बात और है, फिर बेचारी चली ही जाएँगी ।

पतिदेव बिगड़कर बोले,

“तो ठीक है । जो मनमे आये सो करो । मुझे दफ़्तरका काम करना था, यहाँ तो होनेसे रहा । जल्दी दफ़्तर चला जाता हूँ तभी काम हो पायेगा । जरा फ़ाइल उठाकर ला दो !”

मैं फाइल लेने गयी तो जी धक् ! देखा कि फ़ाइलके ऊपर तैलकी बोतल रखे मौसी बच्चोके सिरमे तेल ठोंक रही हैं और फ़ाइल नीचे तक तेलसे चिकनी हो गयी है !

उस दिन मूड बिगड़ा होनेके कारण हम दोनों शामको घूमनेके लिए अकेले ही निकल गये । लौटे तो दरवाज़ेपरसे मैंने सुना कि मौसी नौकरसे कह रही थीं,

“हाँ रे ! तू दो-चार दिनमे ही दूसरा घर तलाश कर ले । भला इस तनख्वाहमे किसीकी गुज़र हो सकती है ? फिर पच्चीस रुपल्लीमे सारे घर का काम ! बहूजीकी बीस बातें ऊपरसे ! तू ही है जो चला रहा है, कोई और होता तो कबका भाग गया होता !”

तबसे मैं उन्हे घरमे अकेली नहीं छोड़ती । करूँ क्या, डरती हूँ कि नौकरको भड़काकर निकलवा दिया तो अपना काम तो है ही, ऊपरसे उनका काम करते-करते नाकमें दम हो जायेगा ।

लेकिन अभी तो बहुत कुछ देखना बाक़ी था । एक दिन उनके बड़े लड़केको बुखार आ गया । एकदम १०४ डिग्री ! मुझे बड़ी चिन्ता हुई कि भगवान् न करे उसे कुछ हो गया तो बहुत मुश्किल हो जायेगी ! फ़ौरन् डॉक्टरको बुलाया, दवा मँगवायी । डॉक्टरने कहा कि शायद चिकन-पाँक्स निकलेगी । हुआ भी यही । बच्चा बहुत बेचैन था । बुखारकी तेज़ीसे तप रहा था । बोला,

“हम तो गुलाबका शरबत पियेंगे । हमे गरमी लगती है ।”

“तुम अच्छे हो जाओ तो तुम्हे पूरी बोतल मँगवाकर देंगे !” मैंने

समझाया ।

“अरे बिटिया, दो-तीन रुपये लगेंगे सो मैं दे दूँगी । दामके मारे बच्चे का मन तो मैला करनेसे रही । बुखारमे मनपसन्द चीज़ खानेसे बच्चा ठीक हो जाता है !”

मुझे आश्चर्य हुआ ।.....“मौसी, उसे निमोनिया हो जायेगा । इतने बुखारमे शरबत दोगी ?”

“निमोनिया उस क्यो होगा, निमोनिया हो तेरे बच्चोंको ! मेरे आंगेकी लडकी, मेरे ही बेटेको कोसती है ! हे भगवान्, इसके दरवाजेपर पड़े है तो यह चाहती है कि लड़केको निमोनिया हो जाये !” वे तुनककर बोली ।

“लेकिन मैं तो उसीकी भलाई—”

“भलाई-बुराई सब मैं देख लूँगी, तुझे इसकी फिकर नहीं करनी है; समझो ?”

मैं समझ गयी । चढ़े-बुखारमें बिना डॉक्टरकी रायके बच्चेको शरबत मँगवाकर दिया गया । उसने और भी जो कुछ माँगा, सो उसे दिया गया । हमारे पूर्व-जन्मोंका पुण्य ही समझिए कि वह फिर भी बच गया । दूसरे दिन दाने निकल आये । देखकर मौसी मुझसे कहने लगीं,

“माता है, ज्यादा नाक-भोह न सिकोड़ना, नहीं तो सारे घरपर कोप करेंगी ! अँग्रेजी फ्रैशनमे पड़कर छूतछात भी मत करना, नहीं तो पीछे बुरी तरह पछताओगी !”

“उसे अलग कमरेमे तो रखना ही होगा । आखिर बच्चोंका घर ठहरा ! ऐसे तो सबको निकलेंगी !”

“देख लिया न ! तूने वही बात शुरू कर दी । क्यों घर-भरको निकलेंगी ? अपना मन साफ़ रखो तो सब ठीक होगा, नहीं तो मैयाकी इच्छा ! अगर सबको निकलना ही चाहेगी तो दुनियाकी कोई ताकत उन्हे रोक नहीं सकती !”

रोगका तनकी अपेक्षा मनसे ही नाता अधिक है यह मैं पूरी तरह

समझ गयी, अतः कहनेको कुछ रह भी नहीं गया। नतीजा यह हुआ कि घरके सारे बच्चोंको एक-एक करके चिकन-पावस निकली और इस स्थिति के लिए मौसी बराबर मुझे दोषी ठहराती रहीं कि न मैं शुरूसे ऐसा सोचती न यह होता।

शुरू-शुरूमें मैंने अपने बच्चोंको अलग रखनेकी कोशिश तो की, लेकिन मौसी एक ओर मुझे ताने देती दूसरी ओर बच्चोंसे कहतीं,

“अरे तुम्हे चुन्नू बहुत याद कर रहा है, दस मिनटके लिए उसके पास खाटपर बैठ जाओ !”

या फिर वे मरीजको ही बाहर निकाल लातीं और जहाँ सब बैठे होते वहीं बैठा देतीं। ऐसेमे कुछ कहते भी नहीं बनता और चुप रहकर यह अन्धेर देखा भी नहीं जाता। एक-दो बार टोका तो मौसी बोलीं,

“हाँ भई, अनाथालय भेज दो मेरे बच्चोंको ! देखूंगी तुम्हारे बच्चे बीमार पड़ेंगे तो कहाँ भेज दोगी !”

और, बच्चोंके ठीक होते ही वे जो-जो कहते हैं, वे बना-बनाकर खिलाती है। दही-बड़े, चटनी, चाँप, पकौड़ियाँ, हलवा, चाट—सब बनता है, और सब खूब छककर खाते हैं। मैं अगर रोकूँ तो वह समझती है कि कंजूसीके मारे बच्चोंका खाना-पीना मुझे नहीं सुहाता, और अगर चुप रहती हूँ तो डर लगता है कि उनमे-से किसीकी बीमारी बिगड़ न जाये ! लेकिन खैर, अब तो कहकर भर पायी; बस चुपचाप तमाशा देखती रहती हूँ और रोज़ सोचती हूँ कि चलो किसी तरहसे एक दिन और कुशलपूर्वक कटा !



दहीकी मटकी सास-बहूके हाथ

नीरजाके मथानी चलाते ही दहीकी मटकी भडाक-से टूटकर बिखर गयी । सासजी कोठरीमे बैठी ठाकुरजीकी पूजामें तल्लीन थीं । यह आवाज सुनते ही बालमुकुन्दको चौकीपर पटककर दौड़ी हुई बाहर आयीं । ज़मीन-पर चारों ओर मक्खन और मठा बिखरा देखकर सासजीके आग लग गयी । हाथ नचाती हुई बोलों,

“बाह रे लच्छन ! ऐसी कुलच्छिनी बहू तो किसीकी न हो ! काम करेगी थोड़ा, बिगाड़ेगी ज्यादा ! हाथ हैं कि हथौड़े ? जब देखो तब नुकसान कर देते हैं ! सारा मक्खन बरबाद करके रख दिया ! अरी अब जो कुछ सामने पड़ा है इसे तो बटोर ले, कि खड़ी-खड़ी धरतीको बिसूरती रहेगी ? बड़े बापकी बेटी है न, काम-काजमे मन कैसे लगे ! हे भगवान्, इस बुढ़ापे में क्या-क्या दुर्दशा करायेंगा !.....किधर-किधरका काम देखू !.....इन रानीजीको मेरे मरथे मढ़कर तुमने कौन जनमका बदला मुझसे निकाला है, ठाकुरजी महाराज !.....”

बड़बड़ाती हुई सासजी मक्खन बटोरने लगीं । नीरजा डरके मारे सहमी हुई-सी रसोईमे जा बैठी । दिन-भर उसपर क्या बीतेगी इसकी रूप-रेखा उसके सामने स्पष्ट थी । तरकारीमे नमक ठीक होगा तो सासजी कहेंगे कि अलोनी है । मसाला कम होगा तो तरकारी फीकी मानी जायेगी, और अधिक होगा तो जहर ! यहाँतक कि चूल्हेमे लकड़ी अगर कम होगी तो कहेंगी जान-बूझकर ठण्डे चूल्हेपर खाना बना रही है जिससे स्वाद बिगड़ जाये, और लकड़ियाँ ज्यादा होंगी तो कहेंगी, “बाप हलवाई है क्या जो भट्टी जलानेकी आदत पड़ी है ?”

हुआ भी यही । रात तक नीरजाके गुणोंका बखान सासजी पुत्र तथा

पतिके आगे करती हुई बारम्बार यह प्रमाणित करती रहीं कि यदि उनकी-सी सास न मिलती तो नीरजाका किसी घरमे गुजारा होना असम्भव था ।

दूसरे दिन दही मथनेके लिए नयी मटकी छूते नीरजाका दिल धड़कने लगा । किसी तरह साहस करके एक बार धीरेसे मथानी चलायी, दो बार चलायी, तीसरी बार जो चलायी तो मटकी चटक गयी । नीरजाके होश उड़ गये । कुछ देर तो वह स्तब्ध-सी वहीं बैठी रही, फिर कुछ सोच कर उसने एक बार दबी दृष्टिसे इधर-उधर देखा और जल्दीसे मटकीके रंगका मजबूत तागा लाकर उसकी गर्दनपर कसकर बांध दिया ।

इसके बाद वह आँगनमें सासजीके पास गयी और मिश्रो-घुले शब्दोमे बोली,

“माँजी ! आज मैंने प्रण कर लिया है कि आपसे सब काम ढंगसे करना सीखूँगी । आपके हाथोमें जैसे अन्नपूर्णाका बास है ! जी चाहता है कि हर समय आपके चरणोंमे बैठी नये-नये काम सीखती रहूँ । भगवान् जाने आपने इतना सब कैसे सीख लिया ! बड़ी-बूढ़ी तो इतनी देखी लेकिन सच माँजी, आपके हाथकी-सी बरकत तो कभी कही देखी ही नहीं ! मैंने सोचा कि आज आपसे मक्खन निकालना भी फिरसे सीखूँगी । कल मुझसे इतना नुकसान हो गया सो आज मटकी छूनेकी हिम्मत ही नहीं हो रही है !”

सासजी गद्गद होकर खीसें निपोरती हुई बोलें,

“बातें बनाना कोई इससे सीखे ! अरे नफ़ा-नुकसान तो ज़िन्दगीके साथ है मगर हाँ काम होशियारीसे करना चाहिए ! चल, आज रोज़से चौगुना मक्खन न निकले तो कहियो !”

कहती हुई वे मचियापर बैठ गयीं । पहली ही बार जो जोरसे मथानी घुमायी सो मटकी टूट गयी । अब बेचारी बड़ी साँसतमे पड़ीं । किसे दोष दें ! खिसियाकर पूछने लगीं,

“क्यों री, मटकी चटखी हुई तो नहीं थी ?”

“नहीं तो माँजी; कल मैंने धोनेसे पहले ठोक-बजा ली थी। मटकी तो बिलकुल ठीक थी, शायद मथानी जोरसे चल गयी होगी !”

“अरे नहीं !” सासजीने कहा, “बात यह है कि आजकलके कुम्हार चोट्टे होएँ हैं। कच्ची मटकी बेंचके पक्कीके दाम खड़े कर लें हैं ! भला बिलोनेवालेका इसमें क्या दोष ! और सच पूछो बहू तो घी-दूध भागका होएँ हैं ! हमारे भागका नहीं था सो बह गया। क्या किया जाये ? सब पूरब जनमके करमोंका फल है। जितना भागमे लिखा है उतना ही मिलेगा। ले, ऊपरसे दही समेटकर रख ले !”

दही समेटते हुए नीरजाने शरारत-भरो मुसकान छुपाते हुए कहा,

“क्या बताऊँ माँजी ! मुझे भी कल बड़ा ताज्जुब हुआ जब मटकी अपने-आप टूटकर बिखर गयी ठीक वैसे ही जैसे आज आपसे टूट गयी !”

सासजीकी जीभ तिलमिलायी तो बहुत, लेकिन कहती क्या : अपराध एक-सा था ! बोलो,

“हाँ हाँ ! तेरी उसमें क्या गलती है, सब भागका फेर है—तभी तो मैंने कल तुझसे कुछ कहा नहीं ! सोचा टूट गयी सो टूट गयी, इस बेचारी को क्या दोष दूँ !”



वायु-सेवन

यदि आप विवाहित हैं तो आपके अधिकारोंकी रक्षाके लिए, और यदि अविवाहित है तो भावी अधिकारोंकी प्राप्तिके लिए मेरा यह सुझाव है कि हम लोग मिलकर नारी जातिके अत्याचारोंके विरुद्ध आवाज उठायें और सरकारसे यह माँग करें कि वह उनके अधिकारोंकी सीमा नियत कर दे । अन्धेर है जनाब ! बेचारी पुरुष जातिपर मनमाने अत्याचार हो रहे हैं लेकिन क्या मजाल जो किसीके कानोंपर जूँ भी रेंग जाये ।

आप देखिए कि पूरे बीस बरस हो गये मुझे अपनी किस्मतपर आँसू बहाते, लेकिन कहीं कोई सुनवाई नहीं ! कोई जल्लाद घिसे हुए अपराधीपर भी वह सख्ती नहीं करेगा जो श्रीमतीजी हमपर करती हैं । तिसपर तुराँ यह कि न कहीं पेटिशन, न किसीसे शिकायत, न ओठोपर हाय : बस ठण्डी साँसें भरकर जो कुछ बीतती है झेलते जाते हैं । और कर भी क्या सकते हैं ? घरपर एक शब्द भी कहे तो शामत, और बाहर कुछ कहें तो लोग मुसकराते हुए पूछते हैं, “तो आप इतने जोरुके गुलाम हैं क्यों ?” अब जनाब, यह ‘क्यों है’ का जवाब कोई भला आदमी क्या दे ? बस है तो है ! अगर न होनेकी गुंजाइश होती तो क्या हमे पागल कुत्तेने काटा था कि हम आज्ञादीके युगमे गुलाम होकर अपना भाग्य सराहते । बहुत-से अनुभवी लोगोका कहना है कि पत्नीपर अपना सिक्का जमाना हो तो पहले दिनसे ही उसपर अपने क्रोध और नखरोंका ऐसा रंग जमाओ कि वह हमेशाके लिए दहल जाये ! लेकिन यह सलाह मुझे कुछ देरसे और श्रीमतीजीको कुछ पहले मिल गयी इसलिए मौक़ा देखकर उन्हाने मुझपर अपना सिक्का जमा लिया । सच पूछिए तो शुरू-शुरूमे मुझे उनसे पैसे माँगकर बाज़ार जाना, उनकी पसन्दकी चीज़ खरीदना, उनसे बजट बनवाना, जो उन्हें अच्छा लगे

वह खाना, जहाँ वे कहें वहाँ जाना — सब बड़ा रोमैण्टिक लगता था। लेकिन जब यही प्रेम-संवाद लोक-भाषामे होने लगे तो मेरा नशा हिरन हो गया। हालत यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि यदि मुझे चार पैसेकी जलेबी भी लानी हो तो वार्तालापकी रूप-रेखा कुछ इस प्रकार रहती—

मै : (कुछ गिडगिडाकर) जरा एक इकन्नी निकालकर दे दो !

वे : (कुछ झल्लाकर) चौकेमे काम कर रही हूँ, हाथ खाली हो तो आऊँ ! तुमने तो बस वहीसे हुकुम चला दिया !

मै : (पन्द्रह मिनट बाद, कुछ सहमकर) खाली हो तो एक इकन्नी निकाल देना !

वे : सुन लिया। बहरी नहीं हूँ।

मै : कहाँ रखी है ? बता दो तो मै ही निकाल लूँ।

वे : तुम्हे नहीं मिलेगी। पहले यह तो बताओ कि लाना क्या है ?

मै : जलेबी लाऊँगा। मुन्नूको बहुत पसन्द है।

वे : यह सब बदपरहेजी करनेसे उसका पेट खराब हो जाता है। उसे जलेबी मत खिलाओ !

मै : अच्छा उसे एक टुकड़ा पकड़ा देना, बाक़ी हम लोग खा लेंगे।

वे : मुझे अच्छी नहीं लगती। मेरे मैकेमे तो सेरो जलेबी आती थी मगर मैने कभी छुई भी नहीं।

मै : तो मै खा लूँगा। चार पैसेकी आयेगी ही कितनी !

वे : तुम्हे यही सब करना आता है। अब खाना खाओगे या जलेबी ? तरकारी हो गयी, दाल छोड़ दी है ! बस, नहाकर आओ तो रोटी सेंक देती हूँ।

इस प्रकार मुझे करना वही होता है जो वे कहती है। और भाई साहब, कुछ बातें तो ऐसी होती हैं जिन्हें आप मनपर पत्थर रखकर झेल सकते हैं लेकिन कुछ ऐसी भी होती हैं जिन्हें झेलते समय मन बारम्बार रेलकी पटरीकी ओर दौड़ता है। अब आप ही देखिए कि किसीकी निद्रामें

बाधक होना कितना भयंकर पाप है ! लेकिन यह छोटी-सी बात उनको समझमे नहीं आती जो मेरी नींदकी दुश्मन है । अच्छा भला नौ-साढ़े-नौ घण्टे सो लेता था, लेकिन भगवान्से मेरा यह सुख देखा न गया । तबीयत भारी रहनेके कारण डॉक्टरसे सलाह ली तो उसने दवा-दारू तो कुछ दी नहीं, बस पत्नीसे कह दिया,

“कोई खास चिन्ताकी बात नहीं । ब्लड-प्रेसर कुछ कम है । अच्छी खुराक खाय और सबेरे तीन-चार मोल घूमे तो ठीक हो जायेगे । स्वस्थ रहनेके लिए प्रातःभ्रमणसे अच्छा कुछ नहीं है ।”

सुनकर मेरा जी जल गया । हजारो रुपये बरबाद करके तो इनके माँ-बापने इन्हे डॉक्टर बनवाया और अब डॉक्टरी करने बैठे तो बताते क्या है—हवाखोरी ! हद हो गयी । इससे तो अच्छा होता कि टॉनिककी चार-छह बोतलें वे मेरे मत्थे मढ़ देते । लेकिन जब अपना भाग्य खोटा हो तो किसीको दोष देनेसे क्या लाभ !

दूसरे ही दिन सुबह मैं मीठी-मीठी नींदका सुख प्राप्त कर रहा था कि मुझे झकझोरते हुए श्रीमतीजी बोली,

“सुनते हो, तुम्हे घूमने जाना है । उठो पाँच बज गये !”

“अभीसे ?” मैंने दीन-भावसे जिज्ञासा की ।

“और कबसे ? क्या जब धूप निकल आयेगी तब जाओगे ?” वे गुर्रायी !

“कलसे शुरू करूँगा । नया काम शुरू करनेके लिए आज वार अच्छा नहीं है ।” मैंने करवट बदलते हुए नींद ही में कहा !

“सब ठीक है । ये बहाने मुझसे न बनाओ । जल्दीसे तैयार होकर चले जाओ और बाहरसे ताला लगा देना जिससे मैं उतनी देर आरामसे सो सकूँ ! तुम तो अब सात बजे तक लौटोगे !”

वाह री हिन्दू-नारी, तेरा कितना पतन हो गया ! पतिको घूमने भेजकर खुद आरामसे सोयेगी ! लेकिन बेचारा आज्ञाकारी पति कर भी क्या सकता है ? ऊँघता हुआ उठा तो सबसे पहले दरवाजेसे जा टकराया ।

माथेपर चोट लगनेसे अकल कुछ ठिकाने आयी । दस-पन्द्रह मिनिटमे किसी तरह तैयार होकर बाहर निकला और इस दारुण कष्टसे बचनेका उपाय सोचने लगा । बहुत सोचने-विचारनेपर एक उपाय समझमे आया । मेरे मकानके एकदम पास ही मेरा एक मित्र रहता था जो मेरी ही तरह सताया हुआ था । मैने सुबह-सुबह सडकें नापनेकी अपेक्षा उसीके घर रुकना ठीक समझा । कुछ देर तो मै उसके बरामदेमे खड़ा-खड़ा ऊँघता रहा, फिर कुछ देर बैठकर ऊँघता रहा और उसके बाद जब हलका-हलका उजाला हो गया तो मैने दरवाजा खटखटाया । भीतरसे झुंझलाया हुआ नारी-स्वर सुनायी पड़ा,

“कोन है भई, अभी खोल रहे है !”

दरवाजा खुला । उक्त नारीने नितान्त उदासोन्तापूर्वक मेरी ओर देखकर कहा,

“ओह आप है ? इतने सवेरे-सवेरे ! सब कुशल तो है ?”

वैसे भाव कुछ इस प्रकार था—

“तुम कहाँसे आ मरे ! शर्म नहीं आती दूसरोको समय-कुसमय इस प्रकार कष्ट देते ! टलो किसी तरह !”

मै नीदमे भरा हुआ था अतः भावोकी अपेक्षा शब्दोंको ग्रहण कर वही एक आराम-कुरसीपर बैठता हुआ बोला,

“सब ठीक है । रंजन उठे तो बाहर भेज दीजिएगा । वैसे कोई जल्दी नहीं है । जरा उससे कुछ बात करनी थी !”

पता नहीं वाक्य पूरा हो पाया था या नहीं, मेरी नीद तब टूटी जब रंजन मुझे चाय पीनेके लिए पुकार रहा था । मै हडबड़ाकर उठा ; चाय पी, दो-चार ड्धर-उधरकी बातें की और लौट आया । बाहर निकलकर रंजनने धीरेसे पूछा,

“क्या हुआ ? रातमे क्या घरसे निकाल दिये गये थे ?”

“नही यार, घूमने निकाला गया हूँ !”

“ओ ! कोई बात नहीं । रोज यही चले आया करो । मैं बरामदेमे आराम-कुरसी डलवा दूँगा जिससे तुम्हें परेशान न होना पड़े । तुम तो जानते ही हो कि इधर भी मामला टेढ़ा है । कहीं मुझे भी तुम्हारे साथ घूमनेका आदेश मिल गया तो बुरा फँस जाऊँगा !”

घायलकी गति घायल जाने और न जाने कोय ! मैं उसे धन्यवाद देकर लौटा और लगा श्रीमतीजीके आगे लम्बी-चौड़ी हाँकने ।

“बड़ी दूर निकल गये थे क्या ? दो-ढाई घण्टेमे लौटे हो !” उन्होंने चैकिंग की ।

“दूर ? अरे मीलोका चक्कर लगाकर लौटा हूँ । प्रातःकालीन वायु-सेवनका सुख तो मैंने आज जाना है : ठण्डी-ठण्डी हवा...चिड़ियोंका चह-चहाना...फूलोंकी सुगन्ध—ऐसा लग रहा था मानो स्वप्नलोकमे विचरण कर रहा हूँ ! और जानती हो, एक-दो नहीं पचासो जान-पहिचानके लोग आज दिखायी दिये ! कहीं लडके दौड़ते हुए चले जा रहे थे, कहीं लड़कियाँ हँसती-बोलती चली जा रही थी !”

“लडकियाँ ! कौन लडकियाँ ?” देवीजीने चौंककर पूछा, “किस उम्रकी-लडकियाँ ?”

अब आप मेरी मूर्खता कहिए या भाग्यका लेखा, उसी उत्साहके साथ कहता गया,

“बालिकाएँ, युवतियाँ, अधेड़, बूढ़ी — सभी प्रकारकी स्त्रियाँ दिखायी दीं । बहुत-से जान-पहिचानके लोग भी थे ।”

“हूँ,” उन्होंने बात काटकर मुझे जासूसी दृष्टिसे घूरते हुए फ़रमाया,

“तो यह बात है ! इसीलिए तुम्हारे जैसे आलसी व्यक्तिको घूमना इतना भाया ! मैं भी कहूँ कि यह चिड़ियों और फूलोंपर तुम्हारा ध्यान गया कैसे ! आधी उम्र कट गयी, न तो कभी तुमने फूलोका गुणगान किया, न चिड़ियोंके गीत तुम्हें सुनायी दिये ! ज़रूर कुछ बात है । कलसे मैं भी तुम्हारे साथ घूमने चला कहूँगी !”

सो भाई साहब, आजकल वायु-सेवनके लिए श्रीमतीजीकी निगरानीमें निकलना पड़ता है। आगे-आगे गाइडकी तरह वे, और पीछे-पीछे अपने भाग्यको कोसता हुआ बेचारा मैं। मित्रके घरके सामनेसे जब निकलता हूँ तो बरामदेमें अपने लिये पड़ी उस खाली आराम-कुरसीको हसरत-भरी निगाहोंसे देख लेता हूँ जिसके दोनों चौड़े हथ्ये मुझे वह सुखद आमन्त्रण देते-से लगते हैं जिसे स्वीकार करनेमें मैं बिल्कुल असमर्थ हूँ।



यदि आप कवि हैं तो

यदि आप कवि नहीं हैं तो अपना भाग्य सराहिए और भगवान्को लाख-लाख धन्यवाद दीजिए कि उसने आपको इस मुसीबतसे बचाया । क्योंकि—यदि आप कवि हो तो बुरा मत मानिएगा—कवि होनेपर जन-साधारणको सबसे पहले यह शक होता है कि आप आवारा हैं और आपको प्रेम करनेका व्यसन है । अब आप शौकसे उड़ते रहिए अपनी कल्पना-परी के पंखोंके सहारे, लोगोंने तो जो मान लिया सो मान लिया और जो निर्णय देना था सो दे दिया । जन-साधारण ही क्या, आलोचक भी आपपर अपनी जासूसी दृष्टि डालते हुए बारम्बार पैतरे बदलते हुए पूछेंगे, “जी, आपकी प्रेरणाका मूल-स्रोत क्या है ?” जिसका सीधी-सादी फ़िल्मी भाषामे यह अर्थ हुआ कि किस बेदर्दने आपके कोमल मनको ठेस पहुँचायी या किस निर्मोही के हाथोंने आपका आशियाना उजाड़ दिया । सो आप कवि होकर जन-साधारणकी दृष्टिमे भी गिर गये और विद्वद्जनकी भी । न दीनके रहे न दुनियाके !

और भाई साहब, अगर आप इस मुग़ालतेमे हो कि कोई और हो या न हो, हमारे मित्र तो साथ हैं ही, तो सच मानिए, आप ग़लत-फ़हमीमे हैं । एक तो आपके मित्र यह देखकर कि आपको अब चाँद गोल फुलकेकी तरह और प्रेयसी ठण्डे शरबतकी तरह लगने लगी हैं, मन-ही-मन आपपर हँसते हैं और आपको टॉपिक बनाकर हँसी-खुशी शाम बितानेके चक्करमे रहते हैं । दूसरे, मान लीजिए कि भगवान्की मायासे दो-एक हमदर्द आपको मिल भी गये, तो वे भी आपके प्रति अपनी सहानुभूतिको सार्वजनिक रूपसे व्यक्त करनेमे घबड़ायेंगे ।

रह गया घर । घरमे माँ-बाप तो कविताके नामसे चिढ़ेंगे और ठण्डी

साँसों भर-भरकर दूसरोसे कहेंगे, “जी क्या करें ! भगवान् ने एक ही लड़का दिया है, वह भी कवि निकल गया !” भाई-बहन हुए, और स्नेहशील हुए, तो वे दूसरोसे भरसक यह छुपायेंगे कि आप कविता लिखते हैं अन्यथा एक रहस्यमय मुसकानके साथ आपकी ओर संकेत करते हुए अपने मित्रोंसे कहेंगे, “यही है !”

अब बताइए, ऐसी स्थितिमें क्या करिएगा ? जी हाँ, अभी आपको एक आशा है। किन्तु श्रीमान्, अब्बल तो यह जान लेनेपर कि आप कवि हैं कोई अपनी लड़की आपके पल्ले बाँधेगा ही नहीं, और यदि तीन-तिकड़मसे यह नौबत आ भी गयी तो पत्नी आठ-आठ आँसू रोयेगी। वह जब कभी आपको गुम-सुम खोया-खोया देखेगी, या आपके मुँहसे प्राण-प्रेयसीका गुण-गान सुनेगी तो उसका माथा ठनकेगा ही। क्या किया जाये ! बाज़ार-हाट आप जानेसे रहे, बच्चोंकी देख-रेख आपके बसकी बात नहीं, पत्नीकी ओर ध्यान देनेकी आपको फुरसत नहीं—तब वह आपको निकम्मा न कहेंगी तो और क्या आपके प्रशंसकोंके स्वरमें स्वर मिलाकर वाह-वाह करेंगी ?

यह तो दशा होगी कवि होनेपर। अब यदि आप कवियित्री हुईं तो और भी मुश्किल। कवि-समाजको प्राप्य दुर्भाग्य तो आपका होगा ही, उसका रंग जरा और चटख हो जायेगा। मैकेमें तो आप अपनी कविताकी काँपी सहेजकर रखेंगी ही, और भूले-भटके यदि वह माँ-बापके सामने पड़ भी गयी तो वे इसे आपका लड़कपन मानकर क्षमा कर देंगे : लेकिन यदि आप ससुराल पहुँचकर लगी टुकुर-टुकुर आसमानकी ओर ताकने या चाँद-सितारोंके लिए नयी-नयी उपमाएँ खोजने तो निश्चय ही घरवाले समझेंगे कि बहूको पागलपनका दौरा आता है और घरवाला समझेगा कि यह जो उसके चन्द्रमुखको छोड़ आप सूने आकाशकी ओर निहार रही है सो इसमें अवश्य कोई रहस्य होगा ! घरमें बाक्रायदा सभा होगी और आपके दोरेका उपचार खोजा जायेगा। निर्णय यह निकलेगा कि एक तो बहूको घरके काममें लगाये रखो और खाली बैठने ही न दो, दूसरे जब कभी पास-पड़ोस

से जनेऊ, मुण्डन, विवाह आदिमें गीतोंका बुलावा आये तो मनोरंजनके लिए उसे वहाँ जरूर भेज दो ।

अब शौकसे जाइए आप गीतोंमें ! झमाझम मँजीरे खनक रहे हैं, ढोलक ठनक रही है और एकसे-एक बहारदार गीत चल रहे हैं—“बन्ना नादान, बजाये हारमोनियम !....बिजलीका पंखा चल रहा बन्नीके कमरेमें !....राजा मिले नहीं मनके !....बेला फूले आधी रात !....जादूगर सझ्याँ छोड़ मोरी बझ्याँ !....” आप ऊबी-ऊबी-सी यह सब सुन रही हैं और वहाँसे भागनेका बहाना सोच रही हैं तभी कोई पूछ बैठेगी, “तुम भी गाओ बहू, तुम्हे नाच-गाना नहीं आता ?” आपकी ननद भला क्यों चुप रहने लगी । उत्साह-पूर्वक कहेगी, “वाह, हमारी भाभी तो खुद गाने लिख लेती हैं !”

बस, अब क्या है ! सुदर्शनकी दादी पास खिसककर आपको सिरसे पैर तक देखती हुई कहेंगी,

“हूँ, ऐसा है ! तब तो कन्हैयाकी बहू, कोई बहारदार गाना हो जाये ! हरमोनियाँपर गायेंगी न ?—शुरू करो जी ढोलक-मँजीरा—नयी बहू गायेंगी !”

अब कहाँ जाइएगा ? खाँस-खूँसकर ढोलक बन्द करवाकर जो आप एक गीत मरी-मरी-सी आवाजमें गुनगुनायेंगी तो पहले तो वहाँ उपस्थित सारा स्त्री-समाज आपको हक्का-बक्का-सा ताकता रहेगा, फिर मुँहपर पल्ला रखकर मुसकरायेगा, अन्तमें यह संकोच भी त्यागकर खी....खी....खी....खी हँसने लगेगा । आपके कविता समाप्त करते ही आपकी पड़ोसिन, भोलाकी ताईकी तरफ़ अर्थभरी दृष्टिसे देख आपसे मुसकराकर पूछेंगी, “बहिनजी, ‘व्योम घरासे पूछ रहा है’, इसका क्या मतलब ? क्या कहीं आसमान भी बोलता है ? ही हीं हीं—”

ठीक है ! जब आपने कविता लिखनेकी धृष्टता की है तो मतलब भी समझाना ही पड़ेगा ! लेकिन इससे पहले कि आप अपनी शरमायी हुई निगाहोंको ऊपर उठाकर कविताकी व्याख्या करें, ढोलक फिर ठनकने

लगेगी और 'नैहर चली जाऊँगी, ओ मोरे राजा !' की स्वर-लहरी गूँज उठेगी । इतना संकेत पर्याप्त है । यदि आप नितान्त मूर्ख^न होंगे तो समझ ही लेंगी कि आपसे उत्तरकी अपेक्षा नहीं है क्योंकि पहले ही आप लोगोंको खासा बोर कर चुकी है । खैर जो, हमें क्या ! एक नेक सलाह देनी थी, सो दे दी !

‘अरसिकेषु कवित्त निवेदनम्’

जीवनको एकरसतासे ऊबकर एक दिन वसन्तदेवने मित्रोसे सलाह ली कि वे उसे इस चक्करसे बाहर निकलनेका उपाय बतायें। दिन-भर वही दफ्तर, वही फ्राइलें; और सुबह-शाम वही पत्नी और बच्चोंके साथ बकझक !

उसके-जैसे धर्मपरायण एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तिको सलाह देनेके पूर्व मित्रोने कई दिन इस समस्यापर सोच-विचार किया और अन्तमे वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि वसन्तदेव यदि अपनी पुरानी पत्नीसे नये ढंगसे प्रेम करे तो शायद उसके मुरझाये हुए नीरस जीवनमे पुनः सरसता आ जाये। बात वसन्तदेवको भी जँची और उसने उसी दिनसे यह निश्चय कर लिया कि अपने पारिवारिक जीवनके प्रति वह अपना दृष्टिकोण बिल्कुल बदल देगा।

शाम हुई। दफ्तरसे जब घर पहुँचा तो रोजकी तरह साइकिल बरा-मदेमे खड़ी न करके उसने बाहरसे ही पुकारा, “शारदाजी, ओ शारदाजी !”

शारदादेवी चौकेमे बैठी लल्लाको पिलानेके लिए दूध ठण्डा कर रही थी। पतिका स्वर सुनकर चौकी और बड़ी मुन्नीसे बोली, “जाकर देख, बाबू क्यों पुकार रहे हैं !”

मुन्नीके पूछनेपर वसन्तदेवने इतना ही कहा कि जाकर भीतरसे अम्माँ को भेज दे। शारदादेवी आश्चर्यचकित-सी बाहर आयीं तो पतिदेवताको मुसकराते हुए सिनेमाके हीरोकी तरह टुकुर-टुकुर अपनी और देखते पाकर उन्हे बड़ी चिढ़ लगी। बरसीं, “कहो, क्यों धरती सिरपर उठाये थे ? क्या काम है ?”

“अरे नाराज क्यों होती है ? हम तो दिन-भरके थके-हारे घर आये, और आप हैं कि आते ही बरस पड़ीं ! सच शारदाजी, अब आपको हमारा

बिलकुल खयाल नहीं रहा !”

सामनेके मकानकी खिडकीमे सोना ताईको मुसकराते देख शारदा-देवीपर घड़ो पानी पड़ गया। पतिको धूरती हुई बोलीं, “चार बच्चोंके बाप हुए, जरा भगवान्से तो डरो ! न दुनियाका लिहाज न मरी शरम-हया ! सामने ताई देख-सुन रहो है, घरमे बड़े-बड़े बच्चे है और तुम हो कि सारदा-सारदा चिल्ला रहे हो ! न जाने कहाँसे ये नये-नये ढंग सीख आते हो—हूँह !”

आते ही जो यह खरी-खरी सुनीं तो वसन्तदेवका रोमाण्टिक मूड कुछ उखड़-सा गया। बुझे हुए मनसे कपड़े बदलकर चौकीमे चाय पीने पहुँच गये। पत्नीने नाश्ता और चायका प्याला सामने रख दिया और खुद तरकारी काटने लगी।

“तुम भी कुछ ले लो,” पतिने आग्रह किया।

“मैं चाय पी चुकी। इस बखत कुछ खाऊँगी तो सामका खाना नहीं खा सकूँगी। तुम ही खाओ।”

“अच्छा, यह मठरी ही ले लो, मेरे हाथसे !”

पिताको माँके मुँहमे मठरी ठूसते देखकर मुन्नी ताली बजाती हुई बोली, “अम्माँको जैसे खिला रहे हो वैसे ही हमे भी खिलाओ, बाबू ! हम भी मठरी लेंगे !”

शारदादेवी हँसासी होकर बोलीं, “अगर तुम्हे यह सब करना है तो मुझे मेरे भइयाके घर पहुँचा दो। बरोबरके बच्चोंके सामने ऐसा करते....!”

इसके बाद उनकी वाणी रूँध गयी और वे हल्दी लगे आँचलसे आँखें पोछने लगीं। वसन्तदेवका प्रेमी हृदय इस अश्रुओकी बरसातसे मुरझा गया और नाश्तेकी प्लेट उन्होंने मुन्नीको थमाते हुए कहा, “लो बेटी, इसे तुम भाई-बहन मिलकर खा लो !”

पतिका भूखा उठ जाना भला पत्नीको कैसे सहन हो सकता है ! शारदादेवीके दुःखका बाँध टूट गया और वह सुबक-सुबककर रोती हुई

बोलों, “क्या हो गया है तुम्हें ? मैं ही आँखोंमें खटकती होऊँ तो वैसा कहो । किस मरीने तुम्हें यह सब लच्छन सिखाये है ? बियाहको पन्द्रह बरस हो गये, अबतक तुम्हें यह बिलल्लापन न सूझा, आज अचानक बहकी-बहकी बातें कर रहे हो ! जरूर किसीने सिखा-पढ़ा दिया है ! हाय, मेरी कच्ची गिरस्तीका क्या होगा—!”

पत्नीकी यह मुद्रा देखकर वसन्तदेवने वहाँसे उठ जानेमें ही कुशल समझी । दो-ढाई घण्टे मोहल्लेमें इधर-उधर घूमकर लौटे तो शारदादेवी भोजन बना चुकी थीं और बच्चे खा-पीकर सो गये थे । वसन्तदेवने सोचा कि पूनोकी रात है और चार कदमपर गंगाका तट ! क्यों न पत्नीको वही ले चलकर मना लें । ऐसे सुन्दर बातावरणमें तो सारा रोष स्वयं ही धुल जायेगा । अतः दुलारके साथ पत्नीसे बोले, “तुम थोड़ी देरके लिए खाली हो तो घूम आयें ।”

“तुम घूम आओ । मुझे तो मुन्नीका बस्ता सीना है । लल्लाकी नेकरों में बटन भी टाँक दूँ, नहीं तो सुबह हाय-हाय मचेगी ।”

“अरे चली भी चलो ! यह काम-धन्धा तो रोज़का है । उठो, वह गुलाबी साड़ी पहन लो; तुमपर बहुत खिलती है !”

“साड़ी ! साड़ी रातमें किसे दिखानी है ? और फिर चलूँ भी तो बच्चोंके पास कौन बैठेगा ?”

“सुन्दरिया है तो ! अभी उसे दो घण्टे लगेंगे काम खत्म करते । तब तक लौट आयेंगे !”

“और जो वह कुछ चुरा ले तो ?”

“स्टोर और बक्सोंवाले कमरोंमें ताला डाल दो । पुरानी नौकरानी है, इतना शक नहीं करना चाहिए ।”

“ऊँह ! इस बखत कहाँ चलोगे ? इससे तो घरमें बैठकर तुम अपना काम करते और मैं अपना ! खैर, इतनी जिद कर रहे हो तो फिर तुम्हारो ही सही । लेकिन कपड़े नहीं बदलूँगी । यों ही चलना हो तो चलो ।”

वसन्तदेव मान गये । बाहर सड़क तक वे बहुधा पान खाने आया करते थे । लेकिन आज उन्हें गंगाकी तरफ बढ़ते देखकर शारदादेवीका माथा ठनका । पूछने लगी, “उधर कहाँ, तुम तो गंगाजीकी तरफ जा रहे हो ?”

“हाँ शारदे ! इस विमुग्धकारी चाँदनीमे गंगा-तटपर बिछी बालुका-राशि मुझे बुला रही है । चलो प्रिये, आज अपने जीवनको हम नया मोड़ देंगे, प्रेमकी नयी शपथ लेंगे !”

शारदादेवीने बहाने-ही-बहानेसे पतिका हाथ टटोला । गरम न पाकर कुछ सन्तोष हुआ । वसन्तदेव शारदादेवीके कर-स्पर्शसे गद्गद होकर बोले, “मेरी साधनाने तुम्हे जीत ही लिया न ?”

लेकिन इस बातका कोई उत्तर न दे, शारदादेवी सोच-विचारमे पड़ गयी । उन्हें अब यह आशंका होने लगी कि उनके पतिदेव कहीं किसी दूसरी स्त्रीके चक्करमे पड़कर उसे डुबा देनेको तो नहीं ले आये है ! यह ध्यान आते ही सहमी-सहमी-सी वे बोली, “बस अब घर चलो, मुझे चक्कर आ रहा है ।”

“चक्कर आ रहा है तो तटके निकट मेरी गोदमे सिर रखकर विश्राम कर लो । मैं तुम्हारे माथेपर रुमाल भिगोकर रख दूँगा । तबीयत ठीक हो जायेगी,” वसन्तदेवने आग्रह किया ।

“नही, मैं अब घर ही जाऊँगी । चलो वापस,” शारदादेवीने दृढ़ता-पूर्वक कहा ।

“नही, शारदे ! यह निस्तब्ध वातावरण, तटको सुलानेके लिए लहरो-की मधुर थपकियाँ, ठण्डी-ठण्डी हवा, जलराशिसे आँख-मिचौनी खेलता चाँद जैसे अपनी ओर बरबस ही खींच रहा है । तुम जानेकी रट क्यों लगाये हो, प्रिये ! चलो, जो चाहता है पानीमे पैर डालकर इस चाँदनीमे भीगा हुआ एकटक तुम्हे निहारता ही रहूँ ! चलो न ?”

पतिको अपना हाथ पकड़ते देखकर शारदादेवी बहुत घबड़ा गयीं । पसीने-पसीने होकर कहने लगी, “तुम्हारा जो ठिकाने नहीं है चलो, वैद्यजी

को बुलाकर दिखा दो.....।”

“मैं एकदम ठीक हूँ, शारदा ! तुम चिन्ता न करो, चलो ! यह पावन जल-राशि जैसे बार-बार अपनी ओर बुला रही है !”

अब तो शारदादेवीकी साँस रुक गयी । पतिकी उपरोक्त बातसे रहा-सहा सशय भी मिट गया । संतुष्ट होकर एक झटकेसे उन्होंने अपना हाथ छुड़ाया और बेतहाशा घरकी तरफ भागी । वसन्तदेव आश्चर्य-चकित-से पुकारते रह गये, “शारदे ! मुनो तो शारदे !!”



अबोर, गुलाल और टेलिफोन

मैंने लाख मना किया कि देखिए घरमें टेलिफोन न लगवाइए । लेकिन पुरुष तो पुरुष ! गलत भी उनकी, सही भी उनकी ! जो बात मुँहसे निकल गयी, बस पत्थरकी लकीर हो गयी । अब आप या तो चुपचाप उनकी हर बात मान लीजिए, या—यदि आपकी शामत आयी हो तो—उनकी बात काटने और सहीको सही कहनेके अपराधमें हफ्तों खुशामद करिए, सौ-सौ बार उनकी भूलके लिए स्वयं क्षमा-याचना करिए, आँसुओकी गरमीसे उनकी उदासीनता पिघलाइए, भूखे रहकर प्रायश्चित्त करिए, तब जाकर कहीं देवता मनेंगे । इसीसे मैंने सोचा कि उनका विरोध करके कौन मुसीबत मोल ले : टेलिफोन लगवाते हैं तो लगवा लें, घर उनका है ! लेकिन सच मानिए जिस दिनसे टेलिफोन लगा है, पास-पड़ोसका हर व्यक्ति यह समझता है कि उसे तथा उसके सगे-सम्बन्धियों अथवा परिचितोको ही नहीं, राह चलतोंको भी समय-असमय हमारे घर आकर टेलिफोन कर लेनेका पूरा अधिकार है । पहले तो इने-गिने लोगोका आना-जाना था, अब जिसे देखिए इतमीनानके साथ चला आ रहा है, जैसे हम लोगोंको कोई काम ही न हो । बस आये, जबतक जी चाहा इधर-उधरकी बातें की और फिर मुसकराते हुए बोले, “ओहो, मैं तो बिल्कुल भूल ही गया था ! जरा फोन करना है, बहुत आवश्यक कार्य है, आज्ञा है ?”

और आज्ञा मिलने न मिलनेकी प्रतीक्षा किये बिना ही सज्जन रिसीवर उठाकर बात-चीत शुरू कर देते हैं । यह भी आवश्यक नहीं समझा जाता कि फोन कार्यवश ही किया जाये । मित्रोके हाल-चाल पूछनेसे लेकर कौन-से सिनेमामे क्या पिकचर चल रही है, ये सूचनाएँ प्राप्त करनेके लिए पड़ोसियोको प्रोत्साहित करना हमारा पुनीत कर्तव्य है । शामको कोई सज्जन

बाहर जाते हैं और उन्हें लौटनेमें देर होनेकी सम्भावना जान पड़ती है तो उन्हें फौरन हम लोगोका ध्यान आता है और वे निस्संकोच आदेश देते हैं, देखिए ज़रा घरपर कहला दीजिएगा कि आज देरसे लौटूंगा, चिन्ता न करें। बस, अब चाहे घरमें नौकर हो या न हो, मेहमान आये हुए हों, बच्चे गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे हो, आपकी इच्छा हो न हो—किन्तु सन्देश तो यथास्थान पहुँचाना ही होगा। इसपर गृहस्वामीका यह रुख कि हर बातपर कह देते हैं—

“इससे मुझे क्या मतलब ? तुम्हारा काम है, तुम जानो !”

यही दशा रातकी भी है। जिसकी इच्छा हुई ‘ट्रंक कॉल’ करने आ बैठे या दुलारी पत्नीको ज़रा जुकाम भी हुआ कि आ धमके डॉक्टरको फ़ोन करने। कोई-कोई बन्धु तो बस चिट लिखकर भेज देते हैं कि कहीसे ज़रूरी ‘ट्रंक कॉल’ आनेवाला है, जब आये तो कहला दीजिएगा। अब वे तो आरामसे पैर फैलाकर सो गये, गरज आपकी है; उठिए, नौकरको जगाइए, सन्देश भिजवाइए और टेलिफ़ोनपर बात पूरी हो जाने तक मूर्खों की तरह खड़े-खड़े ऊँघिए ! तिसपर ये वर्माजी तो नाकमें दम किये हैं। इनकी एक दुलारी बहन है चित्रा, जो शहर ही में ब्याही है। मेरे दुर्भाग्यसे उनके घर भी फ़ोन है ! बस भाई-भावजको दिनमें दो-तीन बार चित्राकी याद ज़रूर आ जाती है ! जब देखिए—“हेलो चित्रा....आज शाम को आ रही हो न ? तबीयत ठीक है ? कल तुम आयीं नहीं इसीसे चिन्ता हो गयी.....शामको आना ज़रूर.....शरद व्यस्त हो तो अकेली चली आना।” यह सुनते ही मेरे तो होश फ़ाख़ता हो जाते हैं, क्योंकि फिर एक नया क्रम चलता है। चित्रा भाईके पास आनेके घण्टे-भर बाद ही फ़ोनपर पतिसे पूछती है.....“सुनिए.....मैं थोड़ी देर और रुक जाऊँ....?”

आधे घण्टे बाद फिर यही प्रश्न। फिर जब वह विदा हो ही जाती है तो फ़ौरन उसके आदरणीय भाई साहब अर्थात् वर्माजी पध़ारते हैं.... “हेलो....कौन, शरद ?....देखो चित्रा यहाँसे चल दी है। घर पहुँच

गयी ?" स्पष्ट है कि रिक्शेपर पैर रखते ही कोई घर नहीं पहुँच सकता । कुछ ही देर बाद घण्टी बजती है.....“देखिए.....मैं चित्रा बोल रही हूँ.... जरा भइयासे कहला दीजिएगा.....अच्छा उन्हे यही बुलवा दीजिए.....मैं होल्ड ऑन किये हूँ ।”

विचित्र हैं यह वर्मा दम्पति भी ! अकारण कभी दूसरोंसे मिलने नहीं आते, बाहर कहीं मिल जाते हैं तो या तो एकदम अनजानेसे कन्ना काटकर निकल जाते हैं, या फिर बोलते भी हैं तो कुछ ऐसे लहजेमे जैसे वे आसमानसे बोल रहे हो और दूसरे घरतीसे सुन रहे हो । परसोंकी ही बात है मैंने श्रीमती वर्मासे पूछा, “होलीपर यही रहिएगा बहनजी ?” वे नाक चढ़ाकर बोली, “बड़ा गन्दा त्योहार है जी ! हम लोग तो घर बन्द किये बैठे रहते हैं । शामको भी बस चित्राकी समुराल जाते हैं और कही नहीं आते जाते । कौन व्यर्थमे गुलालसे अपना मुँह रँगवाये ।”

खैर, बात आयी गयी हो गयी । संयोगसे होलीकी रातको वर्माजी बोले, “आज रात घरसे ज़रूरी ‘ट्रक कॉल’ आनेवाला है, आये तो कृपा करके कहला दीजिएगा ।” पतिदेवने हामी भर दी । रातको उनका फ़ोन तो नहीं आया लेकिन मुझे दूरकी सूझी और मैंने दूसरे दिन बहुत सुबह ही पतिदेव और उनके टेलिफ़ोनी बन्धुओंसे परामर्श करके नौकरके हाथ वर्माजी को सन्देश भिजवा दिया कि आपका फ़ोन आया है.....साहब फ़ौरन बुला रहे हैं । वर्माजी बदहवाससे दौड़े आये तो रिसीवरको यथास्थान रखा देख चौककर बोले,

“अरे, मेरा फ़ोन आया था न ?”

“जी हाँ, आपको आनेमे देर हुई और आपके भाई साहब जल्दीमे थे इसलिये सन्देश ले लिया है ।”

“क्या कह रहे थे वे ?”

“वे कह रहे थे कि होली है !” हम लोगोने ठहाका लगाकर कहा । इतना सुनते ही हमारे छुपे हुए पड़ोसी निकल आये और वर्माजीको सिरसे

पैर तक रंग दिया । उनकी दुर्गति बन ही रही थी कि मैंने नौकर भेजकर श्रीमती वर्मासे कहलाया कि—

“वर्मा साहब फोन सुनकर बहुत फिक्रमे है । आपसे सलाह लेनेके लिए फौरन बुला रहे है ।” श्रीमती वर्मा भी दौड़ी-दौड़ी आयी और फिर तो वह रंग रहा कि आपको क्या बताऊँ !

इस प्रकार टेलीफोनकी मददसे होली तो खूब मनी । लेकिन भई बहुत सहा, अब और नहीं सहूंगी । यह निश्चय करके मैंने आज घोषणा कर दी है कि अब इस घरमे या तो मैं रहूंगी या फिर टेलिफोन ही रहेगा । दोनों एक साथ नहीं रह सकते ।



बॉक्स-ऑफ़िस हिट

क्यों भाई साहब, सुना है कि आपको कहींसे बहुत-सा धन मिल गया है और आप एक फिल्म-कम्पनी खोलनेके चक्करमे हैं : क्या यह सच है ? ठीक है, ठीक है, जब विचार है तो काम भी हो ही जायेगा; चिन्ताकी भला क्या बात है । और फिर आप प्रोड्यूसर-भर बन जाइए, बाकी सारा काम सम्हालनेका मेरा जिम्मा ।

कैसे ? ही, ही, ही.....यह मत पूछिए । बात यह है कि अपने मुँह मियाँ मिट्ठू कैसे बनूँ । आपकी दुआसे जिन्दगी सिनेमाघरोंमें काट दी है मेने ! अब तो इतना अनुभव हो गया है कि एक ही सीनमे सारी पिक्चर का आभास मिल जाता है । यहाँतक कि एक हरी पत्ती मात्र देखकर चट समझ जाता हूँ कि अगर डाल झुकी है तो अभी हीरोइन आकर उसके सहारे झुककर प्रेम-गीत गायेगी जिसे सुनकर हीरो भी काम-धन्धा छोड़कर गाता हुआ वहाँ आ पहुँचेगा, और उन दोनोंमे 'लव' हो जायेगा ।

वैसे फिल्मी प्रेम झुकी हुई डालपर ही आश्रित हो, ऐसी बात नहीं । नौका-विहार और पिकनिकमे भी प्रेम हो जानेके चान्सेज बहुत रहते हैं; लेकिन यह बहुत जरूरी है कि इन पिकनिकोंपर दोनों पार्टियाँ साइकिलोंपर जा रही हों । ऐसा न होनेपर न तो साइकिलोंकी टक्कर होगी और न कोई बात बनेगी । हीरो और हीरोइन मोटरके नीचे भी आ सकते हैं, लेकिन बिलकुल अन्तके निकट । क्योंकि इसके बाद वे अस्पताल ले जाये जायेंगे और वहीं होशमे आते ही डॉक्टर दोनोंके हाथ मिलवा देगा ।

और भाई साहब, अगर किसी सीनमे पेड़ ऊँचा हो और पत्तियाँ सूखी हो तो विश्वास रखिए कि उसके नीचे खड़ी होकर विरहिन नायिका गावेगी

और आपको एक बढिया-सा दो-गाना सुननेको मिल जायेगा ! जी नहीं, दो-गाना मैंने भूलसे नहीं कहा ! बात यह है कि गीतमें नायिका नायक को उसकी बेवफाईपर उलाहना देगी जिसका उत्तर नायक भी गा-गाकर देगा, भले ही वह पाँच हजार मीलकी दूरी पर हो । सच्चा प्रेम है जनाब, क्या किया जाये ! एक ही समय एक ही भाव दोनोंके मनमें उठते हैं ।

वैसे फ़िल्मी दृष्टिकोणके अनुसार गानेका सबसे उपयुक्त अवसर वह है जब किसीकी मृत्यु दिखायी जा रही हो । ऐसे समय, 'ओ जानेवाले लौटके आ !'.....निर्मोही नाता तोड़ चला !'.....आदि मार्मिक गीत गाये जाते हैं । और यह है भी ठीक । जबतक आप अपना दुखड़ा गा-गाकर नहीं सुनायेंगे, तबतक पब्लिक आपके दुःखको समझेगी कैसे !

मौतकी चर्चसे मुझे आत्महत्याका ध्यान हो आया । उसके लिए कुछ आवश्यक चीजें जुटाकर रख लेनी होगी क्योंकि वे घुमा-फिराकर हर फ़िल्ममें काम आती हैं । जहर पीनेके लिए एक निहायत ख़ूबसूरत छोटी-सी सोनेकी प्याली, डूबनेके लिए एक पक्का तालाब जिसमें रंग-बिरंगे कमल खिले हों और जिसके चारों ओर सुन्दर सीनरी हो, ऐक्सिडेंटके लिए बढिया चमचमाती हुई लेटेस्टमॉडलकी एक गाड़ी, और बेहोशी या हार्ट-फ़ेल दिखाना हो तो चक्कर खाकर गिरनेके लिए नये ढंगका क्रोमती सोफ़ा ।

लेकिन प्रोड्यूसर जी.....वाह ! इसमें संकोचकी क्या बात है ! अभी नहीं हैं तो क्या ! कम्पनी खोलनेपर बन ही जायेंगे.....हाँ तो प्रोड्यूसर जी, अपने रामको तो ऐसी फ़िल्म अच्छी ही नहीं लगती जिसमें रोनी सूरतें दिखायी पड़ें । जनाब, बहारदार फ़िल्में तो वह होती हैं कि आप साँस रोके देखते रह जायें । कैदीके हाथ पीछे बँधे हैं.....चेहरेपर काला टोपा डाल दिया गया है.....फाँसीका फन्दा भी गलेमें पड़ चुका है, तभी एक लड़की घोड़ा दौड़ाती हुई आती है—खटाखट, खटाखट—और दूरसे ही चिल्लाती है, "ठहरो !".....सब भौचक्केसे उस सुन्दरीको देखते रह जाते हैं । जल्लाद

भी ठिठक जाता है। नायिका अपने पिता जेलरसे कहती है, “यह निर्दोष हैं पिताजी, अगर आपको फाँसी ही देनी है तो इनकी जगह मुझे फाँसी दिलवा दीजिए। लेकिन मेरा सुहाग मत छीनिए !”.....बस ! लोगोकी आँखोंसे आँसुओंके झरने बहने लगते हैं। जेलर जल्लादसे कहता है, “कैदी को छोड़ दो !”.....पास खड़ा मैजिस्ट्रेट मुसकराकर कैदी और नायिका के सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद देता है और एकत्रित जनसमूह फूल बरसाता है। “यह तो कोई बात हुई ! है न ?

वैसे आप सामाजिक चित्र न बनाना चाहे तो धार्मिक बनाइए : और भी आसान है। अल्हड़ नायक-नायिकाको शिव और पार्वती या लक्ष्मी और नारायण बना दीजिए, कुछ एक्स्ट्रा दूसरे देवी-देवताओंका रोल कर लेंगे। रह गयीं अप्सराएँ ! कैसी भी छोकरीयोंकी एक भीड़ जुटा लीजिए, मेक-अप और कम कपड़ोंसे अप्सराओं-जैसी लगने ही लगेंगी। शूटिंग भी आपकी एक टोलेपर ही हो जाएगी जो कैलाश-पर्वतका काम देगा। कहानियोंकी तो कोई कमी है नहीं, पकी-पकाई ढेरों मिल जायेंगी। रहा संवाद..... उसके लिए सेवक हाजिर है।

और हाँ, ऐतिहासिक चित्रोंपर जरूर गौर करियेगा। भाई साहब, उनके नामपर काफ़ो जनता खिंच आती है। आपने देखा ही होगा कि इस तरहकी विदेशी फ़िल्मे खूब चलती हैं। लेकिन उनमें एक दोष बहुत बड़ा है। वे लोग फ़िज़ूलखर्च बहुत होते हैं। रोमके सीनके लिए पूरी फलटन लेकर रोम चले जायेंगे ! रूसके जाड़ेकी शूटिंग वहीं जाकर होगी ! अफ्रीका के जंगल दिखाने होंगे तो भागे-भागे अफ्रीका जा पहुँचेंगे ! यह भी कोई बात हुई ? जमीनपर रुई धुनवाकर बिछा लीजिए : बर्फ तैयार है। तालके पानीको ज़रा हिला दीजिए तो सागरकी लहरें दिखायी देने लगेंगी। पोशाक चाहे जो पहनवा दीजिए : बस ज़रा भड़कीली हो। रह गयी कहानी, सो उसमें-से इतिहास निकालकर केवल प्रेम-कहानी रहने दीजिए। बस, आपका ऐतिहासिक चित्र अगर बॉक्स-ऑफिस हिट न हो तो मैं अपना नाम बदल दूँ।

जो....क्या ? ओ, पान....हाँ, हाँ, लाइए । जरा-सी सुर्ती और चूना भी । धन्यवाद ! अब चलूँगा....जरा जल्दीमें हूँ । अब तो आप बस मुहूरत की बात सोचिए । बाकी सब प्रबन्ध तो मैं चुटकी बजाते कर दूँगा ।



गिरवी रखी हुई आत्मा

[लघु कथाएँ]

मौलीके तार

उसकी ममता इतनी व्यापक थी और हृदय इतना विशाल कि कोई वृद्ध उससे एक बार भी मिलता तो उसको अपनी सन्तानसे अधिक मानने लगता; कोई युवक उसके सम्पर्कमें आ जाता तो रक्षाबन्धन और भइया-दूजके दिन अनायास ही उसके पाँव उसके घरकी ओर मुड़ जाते; कोई स्त्री क्षण-भर भी उससे बात कर लेती तो उसे लगता मानो युग-युगोसे वह उसीकी सान्त्वनाकी, उसीके स्नेहकी, खोजमें थी ।

एक बार रक्षाबन्धनके अवसरपर उसने बड़े उत्साहसे अपने निकटतम चार बन्धुओको घरपर आमन्त्रित किया । मौलीके तार उनकी कलाइयोपर बाँधे, अँगूठेमें रोली लगाकर उनके टीका काढा और सामने मिठाईसे भरा थाल रखकर वह पानी लेने भीतर चली गयी ।

उसके भीतर जाते ही एकने कहा, “इस पावन स्नेहका मूल्य क्या जीवन-भर भी हम चुका सकेंगे ?”

दूसरेने अत्यन्त उदासीन भावसे कहा, “यह तो अपना-अपना स्वभाव है, इसमें तारीफ़की अथवा कृतज्ञता अनुभव करनेकी कौन-सी बात है ?”

तीसरेने पाँच रुपयेका एक नोट उँगलियोंके बीच दबाते हुए कहा, “भई, आजकल तो एक राखीका मूल्य है पाँच रुपये !”

चौथेने अपनी गोल-गोल आँखें नचाते हुए बड़ी विरक्तिके साथ कहा, “छोड़ो भी यार, बेकारकी बातें करते हो ! उसने इतने युवकोंकी गरम-गरम कलाइयाँ पकड़ी, माथे स्पर्श किये; और उसे चाहिए ही क्या था ?”



वर्षोंका गज़

(पुरुष)

जन्म

वाह ! वाह !!

१ से १२ वर्ष—

“ऐ मुन्नी ! माँसे शिकायत की तो वह झाँपड़ रसीद कहेगा कि तू भी याद करेगी ! चुप रह !” “जा, एक गिलास शर्बत बना ला” “और हाँ, इस कमीजके बटन टूट गये हैं, वह भी टाँक देना !”

१३ से १७ वर्ष—

“अरे भई पानवाले ! जरा चार मीनार की एक डिब्बी दे दो । जिन्दगीमे कुछ सार नहीं है, प्यारे; बस कलेजा फूँक रहे हैं, और जी रहे हैं ।”

१८ से २५ वर्ष—

“सुबहसे शाम हो गयी गलीका चक्कर काटते,

(स्त्री)

जन्म

हाय ! हाय !!

१ से १२ वर्ष—

“माँ देखो, भइया नहीं मानता ! हमारे खिलौने तोड़ रहा है ।” “तुम तो हमेशा भइयाका ही पक्ष लेती हो ! नुकसान वह करता है, डाँटती मुझे हो !”

१३ से १७ वर्ष—

“माँ ! तुम्हारी यह गुलाबी साड़ी पहिन ले ? हमारे ऊपर बहुत खिलती है । (वह बड़ा वैसा लडका है ! कैसे घूर-घूरकर मुझे देख रहा था । शायद आज भी उसी चौराहेपर मिले !)”

१८ से २५ वर्ष—

“सुनिए, ज़रा नमक ला दीजिए—और देखिए, घी

लेकिन वह मुखड़ा फिर
दिखायी नहीं पड़ा !”

२६ से ४० वर्ष—

“नही पार्टनर, अभीसे घर
जाकर कौन बोर होगा ! वही
रें रें, चें चें, पें पें !....क्यों
यार, वह सदाबहार बहुत
दिनसे नहीं दिखायी दी ।
कही बाहर गयी हुई है क्या ?
उसके घुंघराले बाल और
शोख अदाएँ तो बस....कौन-
सा पत्ता फेंका तुमने ? पान
की दुग्गी....नहीं, यह नहीं
चाहिए—गड्डीमे-से लूंगा....”

४१ से ५० वर्ष—

“ओ मुन्नीकी माँ, तुम्हे तो
कभी बच्चोंसे ही फुरसत
नहीं मिलती । ज़रा हमारी
भी कुछ खोज-खबर रखा
करो भई !”

और चोनी भी लेते आइ-
एगा । ये कम्बखत लकड़ियाँ
तो जलती ही नहीं एकदम
गीली है !”

२६ से ४० वर्ष—

“अरे मुन्ना, नीचे उतर !
गिर पड़ेगा तो हाथ-पैर टूट
जायेंगे । जा छोटे भाईका
पालना हिला दे और मुन्नी,
बब्बू, लल्ला, पिम्मी और
बाबूको खाना खानेके लिए
बुला ला । और हाँ, पड़ो-
सिन ताईसे इस प्यालेमे
आमका अचार माँग ला ।”

४१ से ५० वर्ष—

“अब तो दिन-रात यही फिकर
है कि किसी तरह लड़कियों
के हाथ पोले कर दूँ । पण्डित
जी, ज़रा यह पत्री मिलाकर
देखो कितने गुण मिलते हैं ।
लड़का पढा-लिखा है, घर
भी अच्छा है । पत्री मिल
जाये तो इसी सहालगमे
शादी पक्की कर दूँ !”

५० से—

“सुनती हो—जरा हुक्का दे जाओ ! खाँसीके मारे तो नाकमे दम है ।” और देखो, तुम भी जरा यहीं आकर बैठ जाओ—लड़कों को भी पुकार लो—अकेले जी बहुत घबड़ाता है ।”

५० से—

“सारी मुसीबतकी जड ये बहुएँ है ! बहिनजी, क्या बताऊँ ! मैं तो इन लड़कों का ब्याह करके पछतायी ! इससे तो ये कुँवारे ही भले थे, कुछ बात तो सुनते थे ! ठाकुरजी महाराज, अब ऊपर उठा लो तो अच्छा हो ! -यह अन्धेर देखा नहीं जाता !”



सती

बड़ी धूम थी टीलेवाले बाबाकी ! झुकी हुई कमर, लम्बी सफ़ेद दाढ़ी, छोटी-छोटी ज्योतिर्मयी आँखें ! लोग कहते थे कि उनके मुँहसे निकली बात हमेशा सच होकर रहती है । दूर-दूरसे स्त्रियाँ झुण्ड बना-बनाकर उनसे पुत्रवती एवं अखण्ड सौभाग्यवती होनेका वरदान माँगने जातीं । दिनभर टीलेपर मेला-सा लगा रहता ।

कमली भी पड़ोसकी स्त्रियोके साथ बाबाजीसे आशीर्वाद लेने जा रही थी । वह बहुत अनमनी-सी थी । रह-रहकर उसकी चाल धीमी पड़ जाती और वह साथकी स्त्रियोसे पीछे छूट जाती । ऊँचे-ऊँचे घने पेड़ोंके पीछेसे जब टीला झाँकने लगा तो उसने सहसा रुककर अपनी सखी राधासे पूछा,

“तू भी अपने घरवालेको बहुत चाहती है न ?”

राधा शरमा गयी । बोली, “धत् ! यह भी कोई पूछनेकी बात है ! तभी तो बाबाजीका आशीर्वाद लेने जा रही हूँ जिससे उसका मुँह देखती हुई मर सकूँ ।”

“लेकिन—मैं वापस जा रही हूँ !”

“क्यों ?” राधाने आश्चर्य-चकित होकर पूछा । कमलीको बात सुनकर साथकी सभी स्त्रियाँ रुक गयी और आपसमें कानाफूसी करने लगी ।

“देखा ! जमानेमे तो आग लग गयी है, आग !”

“सोच रही होगी कि कब घरवाला मरे, कब गुलछरें उड़ानेका मौका मिले !”

“अन्धेर है ! वह बेचारा तो इसपर जान देता है, मगर इसका यह हाल है ! कोई किसका भरोसा करे !”

“जाना नहीं था तो रानीजी यहाँतक आयीं ही किसलिए ?”

“आदमीके डरसे चली आयी होगी ।”

“तू सचमुच लौट रही है, कमली ? क्या पागल हुई है जो बाबाजीके दरबारसे मुँह मोड़ रही है ?” राधाने कमलीको रोकते हुए कहा ।

“हाँ राधा, पागल ही समझ ! मुझे बार-बार अपने घरवालेकी बातें याद आती हैं और मेरे बड़े हुए पैर थम जाते हैं । उसने आती बार भी मुझे रोककर कहा था, “मत जा कमली ! सोनाको माँ टीलेपर गयी थी सो वह तो आसीस पाकर सुहागिन ही मरी लेकिन सोनाका बाप सबसे पागल हो गया । तू अपनी ही बात सोच रही है; अपना सुहाग, अपना सुरग ! लेकिन तेरे बिना मेरी क्या दसा होगी, यह भी कभी सोचा है ?”—तबसे मैं बराबर यही सोच रही हूँ कि उसके एक घड़ीके सुखके लिए मैं सब कुछ छोड़ सकती हूँ : सधवा रहनेकी चाह और सुरग भी ! भागमे जो लिखा होगा सो तो होगा ही; अपनी तरफसे मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगी जिससे वह तकलीफ पाये । भगवान् करे जो मुसीबत आनी हो मुझपर आयें, जो बुरे दिन देखने हों मैं देखूँ ! वह अपनी अन्तिम साँसतक मेरी सेवा पाये; खुश रहे !”

कमली वापस लौट गयी । राधा सहमी-सहमी-सी पीछे मुड़-मुड़कर सखीको देखती हुई बढ़ने लगी । साथकी स्त्रियोने एक बार घृणा और अ-विश्वासके साथ पीछेकी ओर देखकर कहा,

“अरी तू तो जल्दी-जल्दी पैर बढा । उसके तो बुरे दिन आ गये हैं, इसीसे बुद्धि पलट गयी है !”



अभिव्यक्ति और अनुभव

सहसा कलम रुक गयी !

“थके हुए मजदूरोंके पाँव तपती हुई कोलतारकी सड़कपर ऐसे जल रहे थे, जैसे……”

बहुत सोचा, किन्तु कोई उपमा जँची नहीं। पंखेके नीचे, खसके परदे के पास बैठे लेखकका सिर चकराने लगा।

“ऐसे काम नहीं चलेगा। मैं खुद बाहर जाकर सड़कपर खड़ा होकर अनुभव करूँगा, तभी कोई जोरदार उपमा सूझेगी।” उसने सोचा।

बेचारे शोषित वर्गके प्रति उमड़ती सहानुभूति लेखकको बाहर खींच लायी। वह कुछ देर अनिश्चयकी दशामे बरामदेमे टहलता रहा, इसके उपरान्त किसी प्रकार साहस करके नंगे पाँव सड़कपर निकल आया। क्षण-भर स्तब्ध-सा खड़ा रहा, फिर तेजीसे मुड़कर वापस बँगलेमे लौट आया। पंखा तेज किया, तलवोंको सहलाकर मरहम लगाया, नौकरको खसके परदे तर करनेका आदेश दिया और इस श्रमसे थककर तलवोंकी जलनको भूल जानेके लिए नोदकी दवा खाकर सो गया। कॉपीके खाली पन्ने हवामे फड़-फड़ाते रहे !



गिरवी रखी हुई आत्मा

“तुम चाँदीके चन्द सिक्कोके हाथ बिक गये ? तुम ! पथ-निर्माता ! युग-प्रवर्तक !! अपनी आत्माको गिरवी डाल दिया ? तुम भूल गये कि तुम्हारी कला तुम्हारी अपनी ही नहीं, सम्पूर्ण मानवताकी थाती है। आह ! तुमने झुककर हमें झुका दिया। तुमने बिककर हमें बेच दिया,” मित्रोने उलाहना देते हुए कहा।

बात तीर-सी लगी। साहित्यकारने कहा, “तुम ठीक कहते हो !” और उसने अपनी गिरवी पड़ी हुई आत्माको छुड़ा लिया। वह मुक्त हो गया। किन्तु उसका अभागा शरीर अपने पदकी महानताको भूलकर भूखसे छट-पटाने लगा। साहित्यके मर्मसे अनभिज्ञ मूर्ख बच्चे अपने पीले चेहरे, धँसी हुई आँखें और गिनी जानेवाली हड्डियाँ दिखा-दिखाकर कुछ माँगने लगे। असहयोगी पत्नीने खाट पकड़ ली।

वह तिलमिला उठा। मित्रोके पास जाकर व्यथा-पूर्ण स्वरमें स्वाभिमान के साथ बोला, “मित्रो, मेरी सहायता करो ! एक दिन तुमने मेरी आत्मा को दासतासे बचाया था, आज इस शरीरको नष्ट होनेसे बचा लो। तुमसे माँगनेमें मुझे कुछ लाज नहीं, क्योंकि तुम मेरे अपने हो, हितैषी हो, मित्र हो, हमराही हो ! यह मेरा अधिकार है !”

मित्र कुछ क्षण परेशान-से चुप रहे, फिर निराशाके साथ सिर हिलाते हुए संवेदनात्मक भावसे एक-दूसरेसे कहने लगे, “इस बेचारेका कितना पतन हो गया ! दूसरोके आगे हाथ फैलाता है !”

टूटा दर्पण, गहरी छाया

[एकालाप]

प्रतीक्षा

रात बहुत अँधेरी है। लेकिन आज पूर्णिमा भी होती तो मेरे लिए क्या अँधेरा कुछ घट जाता ? दर्द कुछ बँट जाता ? सूने घरपर छायी मनहूसियत कुछ कम हो जाती ?“पता नहीं ‘वे’ सोये हैं या जाग रहे हैं, दबे पाँव चली आयी हूँ और खड़ी-खड़ी तेरी राह देख रही हूँ।

तेज हवा रह-रहकर दरवाजेको झकझोर रही है“बार-बार लगता है जैसे मेरा राजीव लौट आया हो“लेकिन मेरा वह अभिमानी बेटा इस तरह हार मानकर नहीं लौटेगा“अरे पगले“मैं आजीवन तुझसे बात-बातपर हार मानती रही“तू एक बार इन फैली हुई बाँहोंमें नहीं आ सकता ? मैंने तो तुझसे कह दिया था न, कि भूल मेरी है—भूल हमेशा माँकी होती है क्योंकि उसका प्यार उसे गरदन उठाने ही नहीं देता ! मैंने तुझसे यही तो कहा था कि, “राजीव बेटा, हर समय प्रशान्तसे मार-पीट करता रहता है, कभी भूले-भटके प्यारसे भी बोल दिया कर !”

इतनी-सी बातपर तूने मुझे सारे मोहल्लेके सामने क्या-क्या कहकर अपमानित किया, कैसी-कैसी खरी-खोटी सुनायी। तूने कहा कि मैं तुझे चोरी करनेके लिए प्रोत्साहित करती हूँ। मैं ?“तूने कहा कि मैं तुझसे जलती हूँ, घृणा करती हूँ“माँ अपने ही बच्चेसे जलेगी ?—उसीसे घृणा करेगी ? ओ रे पागल, तुझे क्या कभी समझ नहीं आयेगी ? लोग जब मुझसे कहते हैं कि मैंने तुझे चौपट कर डाला तो मुझे सुख मिलता है, सन्तोष होता है; क्योंकि इससे तेरा दोष मुझपर आ जाता है। लेकिन यही बात तेरे मुँहसे सुनकर ऐसा जान पड़ा मानो तूने मुझे गरम सलाखसे दाग दिया हो। तेरे लिए ऐसा करना कुछ नया नहीं है। बचपनसे ही तू औरोंको कष्ट देता रहा“पहले कीड़े-मकोड़ोंको, फिर जानवरोंको और इसके बाद

मनुष्योंको !.....एक घटना मुझे अब भी याद है ! तब तू बहुत छोटा था । तूने कहीसे एक छिपकलीको डोरीमे बाँध लिया था । मैंने देखा, तो बहुत बिगड़कर कहा, “तू कैसा गन्दा लड़का है.....इसी समय फेंक इसे ! राम राम, मुझे तो देखकर ही घिन लग रही है ! जा, इसे फेंककर अच्छी तरह नहाकर आ तभी खाना परोसूँगी !” तूने मुझे घूरते हुए पूछा था,

“अभी नहीं दोगी ?”

“नहीं दूँगी, बिलकुल नहीं दूँगी !”

“लेकिन मुझे भूख लगी है, अब नहाने नहीं जाऊँगा ।”

“नहीं नहायेगा तो बैठा रह, तुझे दिन-भर खाना मिलेगा ही नहीं !”

“नहीं मिलेगा ?”

“नहीं,” मैंने चिढ़कर कहा ।

“और तुम खाओगी ?”

“हाँ, हाँ ! मैं खाऊँगी.....घरके और सब लोग खायेंगे.....नौकर-चाकर खायेंगे ...बस, तुझे ही नहीं मिलेगा ।”

इसपर तू दाँत पीसता हुआ चौकेमें आ गया और डोरी पकड़कर तूने छिपकलीको मेरी पीठपर, बाँहोंपर, सिरपर जी-भरके चलाया । मैं हतबुद्धि-सी देखती रही । वह गन्दा स्पर्श मुझे इतना कष्टकर प्रतीत नहीं हो रहा था जितना यह बोध कि मेरा बेटा मुझे कष्ट देकर सुख पा रहा है..... अपनी माँको !

उस दिन मैंने तुझे खूब मारा था । तेरे पिताजीने भी जब यह सुना तो तुझे कोठरीमें बन्द कर दिया और दिन-भर खाना देनेको मना कर दिया.....तूने सिर्फ़ एक बार मुझसे कहा, “ठीक है, जो चाहो सो कर लो— मैं भी ऐसा मज़ा चखाऊँगा कि हमेशा याद रखोगी !”.....बात छोटी थी लेकिन तेरा स्वर न जाने कितना कर्कश, कितना निर्मम था कि मुझे लगा जैसे तेरे वाक्य मेरे हृदयपर तेज़ाबसे लिख गये.....!

दूसरे दिन बहुत मनानेपर तूने तो खा-पी लिया लेकिन मैं तीन दिन

तक अन्नका दाना भी मुँहमे न डाल सकी। प्यारसे जब भी तुझे समझाती और तुझे गोदमें लेकर कहती, “.....तू बड़ा राजा है राजीव.....खूब अच्छी-अच्छी बातें सीख ले बेटा तो सब लोग तेरी तारीफ़ करेंगे.....”

“हाँ माँ.....मैं बड़ा होकर तुम्हें खूब पैसे लाकर दूँगा.....मैं डाकू बनूँगा और लोगोंको खूब मारूँगा.....चलती हुई गाड़ी गिरा दिया करूँगा.....और जो कोई मुझे पकड़ने आयेगा उसे बन्दूकसे मार दूँगा—धाय, धाय.....”

“नहीं.....नहीं.....ऐसी बातें नहीं करते.....तू डॉक्टर बनेगा, इंजीनियर बनेगा.....” मैंने तुझे समझाया था लेकिन तू हमेशा अपने मनकी करता था। वही बात अब भी तुझमें है।

तेरे चले जानेके बाद मैंने सुना कि तूने किसी पड़ोसीसे इम्तहानके बहाने घड़ी माँगी थी, वह नहीं लौटायी। दूसरेसे दस रुपये लिये थे, वे भी नहीं दिये। और भी शिकायतें मुझ तक पहुँचती हैं.....किसी दूसरेका लड़का ऐसा होता तो मैं भी कहती, “चलो भाग गया तो पाप कटा ! लौटकर न आये यही मनाओ।”

तेरे पिताजी पुरुष है, वे तुझपर क्रोध प्रकट करके ही सन्तुष्ट हो लेते हैं.....लेकिन मैं ?.....पाँच रातें हो गयी इसी तरह करवटें बदलते.....दिखाने के लिए दो-एक कौर मुँहमे डाल लेती हूँ, वे भी जैसे विष हो जाते हैं। लोग तरह-तरहकी बातें करते हैं—कोई कहता है तू पुलिसके डरसे भाग गया है, कोई कहता है तूने आत्महत्या कर ली होगी, कोई कहता है तू सैर-सपाटेके लिए निकल गया है.....

कोई कुछ भी कहे.....मेरे अभागे मनमें तो सबसे अशुभ-अमंगलकारी विचार ही आते हैं.....लौट आ राजीव, लौट आ ! यह तो सोच कि मैं तेरी माँ हूँ और तू जैसा भी है, मेरा बेटा है !



सिन्दूरकी रेखा

अगर मेरा रंग इतना साँवला न होता, आँखें कुछ बड़ी होती, नाक कुछ तीखी होती, और माथा जरा ऊँचा होता तो मैं देखनेमें कुछ बुरी तो न लगती....शायद सुन्दर ही लगती !....सुन्दर ! हुँह ये चुन्धी आँखें, ये चपटी नाक, ये काला रंग....सब सौन्दर्यके ही तो प्रतीक है ! अब घरमें एक भी दर्पण नहीं रखूँगी....फेंक दूँगी इन्हें....चकनाचूर कर दूँगी....तब कौन कहेगा कि मैं असुन्दर हूँ । लेकिन क्या ये बीते रीते पैंतीस वर्ष कभी चुप होंगे ? ये तो जैसे मेरे विरुद्ध मोर्चा बाँधे बैठे हैं....कभी बचपन व्यग्यसे मुसकरा उठता है....माँ-बापकी निराशा और उपेक्षा-भरी दृष्टि अब भी चुभती है....हर जगह तिरस्कार, हर समय अपमान ! श्यामला को सब कितना चाहते थे....उसे तो सब हाथो-हाथ रखते । कितनी दुलारी थी वह....मैं बड़ी होते हुए भी जैसे सौतेली थी, परायी थी । लेकिन श्यामला ! वह मेरी नन्ही गुड़िया-सी प्यारी बहिन....मुझे कितना मानती थी । बचपनमें ही माँ चली गयी; कुछ वर्षों तक केवल पिताजी रह गये । श्यामला और मैं अभिन्न हो गये । उसके लिए माँ, बहिन, सखी—जो कुछ थी मैं थी । मैं पढ़ती-लिखती, घरका काम-काज करती और श्यामला को हृदयसे लगाकर अपना सारा श्रम भूल जाती ।....फिर पिताजी भी चले गये ।

तब मैं बड़ी हो चुकी थी—एम० ए० पास कर चुकी थी और नौकरी भी करने लगी थी ।....तबतक मैं अपनी स्थितिको, अपनी कुरूपताको, पूरी तरह समझने लगी थी । दिनमें अपने-आपको काममें उलझाये रखनेपर भी रातके सन्नाटेमें मैं फूट-फूटकर रोती । लेकिन अब अपनेसे कुछ छुपाऊँगी नहीं....मेरे मनको सदैव यह भाव सान्त्वना दिया करता था कि एक ऐसा

दिन भी अवश्य होगा जब कोई डोली लेकर आयेगा.....और मैं सकुचायी-शरमायी-सी अपनी ससुराल जाऊँगी। पतिके असाधारण होनेकी बात मैंने नहीं सोची : न रूपको लेकर, न गुणको, न घर-द्वारको। सोचती भी कैसे ? तब तो मुझे अपना रग-रूप टोसने लगता न ? लेकिन यह सच है कि कोई अनजान था जो मेरे सपनोंपर छाया था, जो हर कष्टमें मुझे काल्पनिक सहायता देता, मेरी बात पूछता, मेरा मान रखता। मैं सोचती थी कि पिताजी मेरे लिए कोई-न-कोई वर अवश्य खोज लेंगे किन्तु.....किन्तु जब पिताजी अपना काम अधूरा छोड़कर चले गये तो जैसे किसीने मेरे मनको झकझोर कर कहा, “अब तेरे सपनोंका स्वामी कभी नहीं आयेगा.....यह सूनापन, यह पीडा, हमेशा.....हमेशाको तेरी हो गयी।”

लेकिन मैंने इसे स्वीकार नहीं किया। एक हलकी-सी ज्योति थी जो बार-बार कहती थी, “नहीं, मेरी माँगमें सिन्दूर भरनेवाला आयेगा.....जरूर आयेगा।”

इसी ज्वार-भाटेकी स्थितिमें मैंने श्यामलाको कसकर थाम लिया, वैसे ही जैसे बीमार माँ अपने बच्चेको थामती है। वह मेरे साथ खाती, मेरे कमरेमें सोती और मैं छाया-सी हर समय उसीके साथ रहती। वह सो जाती तो मैं उसके चाँद-से चेहरेपर-से बालोंकी लटें हटाकर, उसका हाथ अपने हाथोंमें दबाकर सो जाती। उसके लिए अच्छेसे-अच्छे कपड़े बनवाती, बढ़ियासे-बढ़िया चीजें बनाकर उसे खिलाती और वह भी प्यारसे अपनी बाँहों में मेरे गलेमें डालकर कहा करती, “दीदी, हमे दुनियामें तुमसे प्यारा कोई नहीं लगता।”

उसके स्नेहने मेरे जीवनको इतना परिपूर्ण, इतना हरा-भरा, कर दिया कि अभाव और सूनापन किसे कहते हैं मैं भी भूल गयी। धीरे-धीरे श्यामला बड़ी हो गयी और मुझे उसके विवाहकी चिन्ता हुई। किन्तु जब भी कही मैं उसके विवाहकी बात चलाती, मैं मन-ही-मन यही मनाती कि वहाँ बात पक्की न हो जिससे मेरी बहिन कुछ दिन और मेरे पास बनी

रहे। लेकिन श्यामलाका मोहक रूप उसे कबतक मुझसे बाँधे रहता ! आखिर चन्दनके साथ उसका विवाह पक्का हो गया और मेरी फैली हुई बाँहें उसे बाँधकर न रख सकीं।

और उसके चले जानेके बाद ? उसके बाद मेरी वही दशा हो गयी जो सुहागिनका सुहाग लुट जानेपर होती है, माँका बच्चा छिन जानेपर होती है। मैं शरीरसे अपने घर थी, मनसे श्यामलाके पास। मुझे यह सोच-सोचकर सान्त्वना मिलती कि शायद वह भी मेरे लिए इसी तरह व्याकुल होगी। पर यह मेरा भ्रम था—मैंने शहरमें उसका विवाह इसीलिए किया जिससे वह मेरी आँखोंसे ओझल न हो सके। लेकिन जब वह पन्द्रह दिन बाद ससुरालसे लौटी तो चन्दन उसके साथ आया और कहने लगा कि उसकी चार दिनकी छुट्टियाँ हैं—इसके बाद वह श्यामलाको साथ ही ले जायेगा। वे दोनों चार दिन यहाँ रहे। इस बीच श्यामलाने मुझसे मुश्किलसे चार-छह बातें की होंगी—वह भी भोजनसे सम्बन्धित या फिर अपने पतिके साथ घूमने जानेकी सूचना देते हुए। उसने एक बार भी मुझसे साथ चलने को नहीं कहा। एक बार भी मेरी बात नहीं पूछी, अपनी नहीं कही। और चन्दन ! वह तो जैसे बौराया-सा उसे हरदम निहारा करता। मैंने उसे कितना रोकना चाहा लेकिन रुकनेकी उसकी अपनी इच्छा ही न थी, नहीं तो वह चन्दनसे कह देती तो उसकी सास महीना-भर बाद तारा ठीक होनेपर ही उसे बुलाती।—श्यामलाको मेरा अब इतना भी खयाल नहीं रहा ? मैं उसे देखनेको तरस जाती हूँ—उसे हृदयसे लगानेके लिए आतुर रहती हूँ इसका उसके लिए अब रत्ती-भर भी मूल्य नहीं रहा ? जो कुछ है सब चन्दन !—दीदी एकदम बेगानी हो गयी ?

यह सूना आँगन जैसे काटनेको दौड़ता है—तो क्या श्यामला सचमुच हमेशाके लिए चली गयी ? मेरा अब उसपर कोई अधिकार नहीं ?—यह कैसे होगा भगवान्, मेरी बहिन मुझे लौटा दो—वह लौट सकती है—वह सचमुच लौट सकती है यदि—यदि—नहीं नहीं, ऐसी अशुभ बातकी कल्पना

भी पाप है.....नीचता है.....वह सुखी रहे.....फले-फूले.....सौभाग्यवती हो.....
लेकिन मैं ?.....फिर मेरा क्या होगा ? मैं जन्म-भर इसी तरह दरवाजा खोले
आहट लेती रहूँगी कि वह कब मुझे दिखायी दे । उससे उसकी इच्छाके
विरुद्ध आनेकी याचना करूँगी ? नहीं-नहीं, यह कभी नहीं होगा.....श्यामला
ही अब मेरे शेष नीरस जीवनका सहारा है.....उसे लौटा दो.....इन फैली
बाँहोंमें.....इस सूने आँगनमें.....उसे फिर लौटा दो प्रभू ! मुझसे मेरे जीवनका
सहारा न छीनो ! चाहे उसे विधवा होकर ही लौटना पड़े.....पर उसे लौटा
दो.....उसे लौटा दो !.....



टूटा दर्पण : गहरी छाया

आज इस जाड़ेकी सूनी रातमे बार-बार तुम्हारी याद उभर रही है । बरबस ही आँखोमे आँसू छलछला आते है और मैं एक गहरी पीडाका अनुभव करती हुई सोचती हूँ कि यह सब किसके लिए ? तुम्हारे लिए ? तुम, जो मुझे भूल चुके हो; तुम, जो मुझसे इतनी दूर हो; तुम, जो मेरा नाम आते ही घृणासे सिहर उठते हो ! कितना चाहती हूँ कि मुझे जो कुछ तुमसे बाँधता है वह टूट जाये, चूर-चूर हो जाये.....लेकिन चकना-चूर मनके हर शीशेके टुकडेमे भी जब तुम-ही-तुम झाँकते हो तो बोलो मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ?....आखिरी बार मैंने बडे अरमानसे तुमसे पूछा था, “सच बताओ, क्या अब ‘मेरे लिए तुम्हारे मनमे कोई स्थान नही ?” तुमने बिना मेरी ओर देखे कह दिया था, “तुम्हारे लिए ?” दो निर्दोष शब्द इतनी घृणा व्यक्त कर सकते है यह मैंने कभी अनुमान भी नही किया था....! बच्चे मुझसे पूछते है, “माँ, पिताजीके पास हम लोग कब चलेंगे ?” मैं किस मुँहसे उनसे कहूँ कि कभी नहीं चलेंगे.... कभी नही ! जब मुझे घेरकर वे मुझसे तुम्हारे दुलारकी बातें करते है तो मैं बार-बार लकड़ी गीली होनेका बहाना करके आँखें पोंछ लेती हूँ, या वहाँसे किसी कामके बहाने हट जाती हूँ । वे बार-बार मुझसे कहलाते है कि उनके पिताजी उन्हें औरोके पिताजीसे ज्यादा प्यार करते है, कि उनके पिताजी जब आयेंगे तो डलियाँ भर-भरकर खिलौने, मिठाई और फल लायेंगे....मैं उन नन्हे मासूम बच्चोसे कैसे कह दूँ कि उनके निष्ठुर पिताजी न उनकी याद करते है न उनके पास आनेको सोचते है....! तुम चाहते तो क्या इन दो वर्षोमे एक बार भी अपने बच्चोंको देखने न आते ? इस गरमीमें राजन जब बीमार पड़ा था तो उसने जिद पकड ली

थी कि दवा मैं और किसीके हाथसे नहीं पिऊँगा । मेरे पिताजीको बुलाओ, वही आकर दवा पिलायेंगे !.....मैंने तुम्हे पत्र लिखा था । लेकिन तुम !..... नहीं आये । जवाब तक न दिया । दुश्मन तो मैं हूँ न, उस बेचारेने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? लेकिन ठीक ही तो है ! मेरे बेटेको कुछ हो भी जाता, तो तुम्हारा क्या बिगड़ता ! जब मैं तुम्हारी कोई नहीं, तो मेरी सन्तान भी तुम्हारी कोई नहीं !

सुना है जल्दी ही फिर शादी करके घर बसानेवाले हो । सुनकर बहुत कष्ट हुआ, बहुत चोट लगी । क्या हो गया है तुम्हे ?.....याद है ? कभी सारी-सारी रात हम-तुम बातों-ही-बातोंमें काट देते थे ! तुम घरमें पैर रखते ही मुझे खोजते थे ! एक दिनके लिए भी परदेश जानेपर तुम्हारे दो-दो पत्र आ जाया करते थे.....तब तो तुम ऐसे नहीं थे ! तब तो.....पागल हूँ मैं भी ! तबकी बातें याद करनेमें कुछ लाभ है क्या ? रो-रोकर अन्धी हो जाऊँ, बीमार पड़ जाऊँ तो भी क्या ! कौन है मेरा जो पास आयेगा, मेरी दशापर दो आँसू बहायेगा ! एक तुम थे, सो अब वह भी नहीं.....!

कहते हैं तलाक़से दो दूर हुए व्यक्ति अलग हो जाते हैं । मैं कहाँ अलग हो सकी तुमसे ? जैसी तुम्हारे पास रहकर तुमसे बँधी थी वैसी ही अब भी बँधी हूँ । इतने दिनों क्षण-भरको भी तुम्हारा ध्यान नहीं उतरा । कभी क्रोधसे याद किया, कभी प्यारसे, कभी घृणासे ! जानती हूँ इस लडकपनसे कोई लाभ नहीं । अब तुम मेरे कौन हो ? कोई नहीं !

मैं पहले दिनसे जानती थी कि वह औरत तुम्हे मुझसे छीन लेगी । आखिर वही हुआ न ! किस अभागी घड़ीमें वह आकर बसी ! मेरा सारा सुख, सारी शान्ति लूट ले गयी । उसे तो और भी मिल जाते । मेरा ही घर उजाड़ना था अभागीको !

तुम नहीं जानते । कितनी ही बार मैंने जो कड़वी बातें कही, अकारण क्रोध व्यक्त किया, वह केवल इसलिए कि मैंने तुम्हे और उसे बड़े अनुरागके साथ मुसकराते हुए धीरे-धीरे बातें करते देखा था । सुन कभी

कुछ नहीं पायी, इसीका अब भी अरमान है। मनको यह आशा सालती है कि शायद यह सब मेरा भ्रम ही हो। शायद मुझसे दूर हटकर भी तुम और किसीके पास नहीं गये। लेकिन नहीं। मैंने तुम दोनोंकी आँखोंमें प्यारकी छाया देखी थी, उसे पहचाननेमें मुझसे कही कोई भूल नहीं हुई। काश मैं उस छोकरीकी गरदनपर उँगलियाँ रखकर दबा देती, काश उसके मोतीसे दाँत हथौड़ेसे एक-एक कर तोड़ डालती ! काश उसकी आँखोंमें जलती हुई सलाखें भोंक देती.....लेकिन उसे क्यों कोसती हूँ ? मेरा ही सिक्का खोटा निकल गया तो दूसरेको क्या दोष देना ! वह न आती, तो कोई और छीन ले जाती ! जानेवाला ही जब जानेको आतुर था तो उसे रोकता कौन ?

फिर भी इच्छा होती है कि कोई मेरे सामने सारा रहस्य खोल जाये। यदि मैं निश्चित रूपसे यह जान लेती कि तुमने अपने-आपको किसी अन्यको समर्पित करके मुझे धोखा दिया है तो मैं तुमसे घृणा करनेकी कोशिश करती ! या मैं यह जान लेती कि तुम्हारे प्रति मेरे अथाह प्रेमने मात्र-ईर्ष्याविश ही इतनी लम्बी-चौड़ी कहानी रच डाली.....सत्य बस इतना है कि तुम मेरे हो, केवल मेरे : तो मैं इसी क्षण आकर अपने खोये साम्राज्यको वापस माँग लेती !

तुम मुझे भूल जाते, त्याग देते; पर एक बार अपने मुँहसे कुछ कह तो देते ! प्रकाशकी एक हलकी-सी किरण मिल जाती तो मैं इस अन्धकारके अभिशापसे तो बच जाती ! कुछ भी देखती—कष्टप्रद, घृणित, भयंकर-तम—इस अनिश्चयकी स्थितिसे वह हजार गुना अच्छा होता, और तब मैं उसे झेलनेके लिए प्रस्तुत होती ! किन्तु तुमने मुझे यह कैसी सजा दे डाली कि बार-बार मुझे लगता है कि अपराधी तुम नहीं हो, मैं हूँ !

तुमपर शक करके मैंने न जाने कितनी रातें करवटें बदलकर काट दी। तुम जब घर आते थे तो मैं तुम्हारे कोटकी सारी जेबें देख डालती थी कि कहीं कोई ऐसा कागज मिल जाये जो उसने तुम्हें लिखकर भेजा हो। तुम

साइकिल उठाकर निकलते थे तो मैं दूर-दूर तक देखती रहती थी कि किस दिशामें मुड़ते हो। एक शाम तुम्हारा पीछा करती हुई मैं डाक्टर साहबके बैंगले तक चली गयी थी। बड़ी देर अँधेरेमें सड़कपर खड़ी रही। कुछ देर भीतर हँसने-बोलनेके बाद तुम लोग बाहर निकले थे और लॉनमें वह लड़की, तुम, उसका भाई और माँ—चारों टेनिस खेलने लगे थे। तुम दोनों एक तरफ़ थे, माँ-बेटे एक तरफ़। बीच-बीचमें तुम दुलारके साथ उसे 'पार्टनर' पुकारते थे। तब मुझे उसके अर्थ पता नहीं थे। घर आकर देवरजीसे पूछा कि पार्टनर किसे कहते हैं, तो वह हँसे और बोले, "कई अर्थ होते हैं, पर मुझे तो एक ही अर्थ अच्छा लगता है—पार्टनर माने साथी।" सुनकर मेरा रोम-रोम जल उठा। तुम कैसे इतने निर्लज्ज हो गये कि औरोंके सामने पर-स्त्रीको साथी पुकारने लगे ! उसी दिनसे मुझे लगने लगा कि मेरे विरुद्ध तुम सब मिलकर षड्यन्त्र कर रहे हो ! उसी शामको मैंने तुम्हारे मनकी थाह लेनेके लिए पूछा था,

“डाक्टर साहबकी लड़की बहुत सुन्दर है क्या ?”

तुमने उदासीन होकर कहा था,

“क्यों ? तुम्हें क्या परेशानी है ?”

“आपको तो बहुत पसन्द है ?”

“क्यों नहीं ! अच्छी तो है ही !”

तुमने साफ़-साफ़ क्यों नहीं कह दिया कि तुम उसे प्यार करते हो ? मेरे मनसे यह संशय तो दूर हो जाता। मैं निश्चित रूपसे यह तो जान लेती कि तुम मेरे नहीं हो !

घृणा, निराशा, कटुतासे मन भर उठता है तो जी चाहता है कि दीवार से टकराकर सिर फोड़ लूँ, ऊपर छतसे कूद पड़ूँ..... किसी भी तरह आत्म-हत्या कर लूँ ! लेकिन वह भी कहाँ कर पाती हूँ। विद्रोही होकर सोचती हूँ कि इससे तो तुम प्रसन्न होगे, तुम्हें सन्तोष होगा और उस सन्तोषका कारण मैं नहीं बनूंगी ! इसी तरह तिल-तिल जलकर दिन काट दिये ! पूरे

दो बरस !! शीशेमें सूरत देखती हूँ तो अपनेपर खुद तरस आता है । जैसे मेरी छाया-भर रह गयी हो । वह भी उसका उपेक्षित, भयानक रूप !

मनमे जो इतनी कड़वाहट है, प्रतिशोधकी भावना है, उसे व्यक्त करनेका अवसर क्या कभी नहीं पाऊँगी ? काश किसी तरह, किसी भी तरह तुम्हे चोट पहुँचा सकती तो तुम्हे मेरी दशाका अनुमान हो पाता । तुम अब भी मुझपर आघात कर सकते हो ! क्योंकि मैं तुम्हे बेहद प्यार करती हूँ, चाहनेपर भी भूल नहीं पाती । लेकिन मेरा उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण—कुछ भी तुम्हे नहीं छू सकता ! ओ पत्थर ! तुम्हे चोट पहुँचानेकी सामर्थ्य मुझमे नहीं है । मुझे अकेले ही दिन काटने है—एकके बाद एक : ऐसे ही नीरस, ऐसे ही एकाकी, ऐसे ही असहाय ! घरके सब दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द हैं । अब किसे आना है जिसकी मुझे प्रतीक्षा हो ! उफ़, दिन अब कितने बड़े हो गये हैं और रातें कितनी लम्बी ! लगता है ज़िन्दगी मालगाड़ीका वह टूटा हुआ लावारिस डब्बा है जिसे जगलके वीरानेमे आकर रुक जानेवाली पटरियोके किनारे इसी प्रकार पड़े रहना है ।



ज़िन्दगी : एक उलझी डोर

यह जो रोज-रोजकी उलझन है इसे लिख डालनेसे ही क्या होगा ? दर्द तो बँटेगा नहीं, समस्याएँ सुलझेंगी नहीं, फिर इन छोटी-छोटी बातोंको मनकी गहराईसे निकालकर कागज रँगनेसे क्या लाभ ?—शायद इससे मन कुछ हलका हो जाये ।

रोज रातके अँधेरेमे अपने सोये हुए अबोध बालकका माथा चूमकर, उसके रूखे अस्त-व्यस्त बालोपर हाथ फेरती हुई सोचती हूँ कि कलसे, कलसे ज़रूर, इसपर जी भरकर ममता जताऊँगी । काश जितनी है, उससे आधी भी व्यक्त कर पाती ! कभी उसकी सुनती नहीं, उसका कहा कर नहीं पाती, तभी तो अभीसे उलाहने देना सीख गया हूँ । मुझपर अधिकार मान कर रूठता नहीं, मचलता नहीं, चुपचाप अपने मनकी करता रहता है । और मैं ! मुझे यह सब देखने-सुनने-समझनेका अवकाश ही कहाँ है ! मैं तो धीरे-धीरे जैसे क्रूरताकी साकार मूर्ति बनती जा रही हूँ । छोटी-छोटी बातोंपर बिगड़ना, क्रोध करना : शोभा देता है मुझे ? आज सवेरे जब धीरज बिना अपने कपड़े निकाले गुसलखानेमे चला गया और वहीसे चिल्लाकर बोला, “माँ, मैं कपड़े भूल आया, जरा जल्दीसे निकालकर दे जाओ ।” तब अगर मैं उसे कपड़े उठाकर दे ही आती तो क्या छोटी हो जाती ? दो मिनट भी तो न लगते । लेकिन हाथमे उसी दिन पूरा करके ले जानेके लिए लाया हुआ दफ़्तरका काम, दसको ओर तेज़ीसे लपकती हुई घड़ीकी सूइयाँ—कितनी विवशता है ! कितनी लाचारी !—भावनाहीन मशीनकी भाँति मैंने चट उसे झिड़क दिया, “नहीं निकालूँगी, दुष्ट कही का ! इतना बड़ा हो गया, लेकिन काममे हाथ बँटाना तो दूर, इतना भी नहीं होता कि खुद स्कूलके समयसे तैयार ही हो जाये ! साढ़े नौ बज चुके

है। मुझे दफ़्तर नहीं जाना है क्या ?” और शामको जब अचानक एक आवश्यक कार्यवश मुझे वापस लौटनेमें आठ बज गये तो आकर देखा कि वह मुरझाया हुआ-सा बरामदेमें बैठा था। देखते ही झट्लाकर बोला, “चार बजेसे भूखा बैठा हूँ, किसीको मेरी परवाह ही नहीं है चाहे भूखा ही मर जाऊँ !”

दिन-भरकी थकी-हारी लौटी थी, यह उलाहना अच्छा नहीं लगा। फिर भी मनको ठेस लगी। यह अनुभव किया कि जो दुलार उसे इस अवस्थामें मिलना चाहिए वह दे नहीं पा रही हूँ। वह चाहता था कि मैं उस समय उसे दुलारती, देरसे थानेका कारण बताकर दुःख प्रकट करती, उसे बहलाती और उसी समय उसकी पसन्दकी चीजें खिलाती। लेकिन इसके बदलेमें मिला उसे एक वाक्य, “क्यों जान खा रहे हो भई, अभी घरमें पैर नहीं रखा है। मशीन तो हूँ नहीं कि फ़ौरन कुछ बना दूँगी। ज़रा साँस तो लेने दो।”

वह नाराज़ होकर भूखा ही सो गया। फिर मुझसे क्या खाया जाता ? और इसे ही क्या, खुद उन्हें भी लगता है जैसे उनकी उपेक्षा हो रही है। मैं उनके छोटे-छोटे कामोंकी ओर भी ध्यान नहीं देती। आज सुबह ही ज़रा-सी बातका बुरा मान गये। नीली धारीकी एक कमीज़ उन्हें बेहद पसन्द है। पहननेके लिए निकाली तो देखा कि जेबपर सिलाई उधड़ी हुई थी। धुलने जानेके पहले भी वे उसे ठीक करनेके लिए कह चुके थे, इस-लिए चिढ़कर बोले,

“अगर तुम इसे ठीक न करना चाहो तो साफ़ कह दो। बेकार टालने से क्या फ़ायदा !”

“अभी बख़िया चलाये देती हूँ। क्या कल्लू फ़ुरसत तो मिलती ही नहीं”, मैंने चोटी करते हुए कहा।

उन्हें बुरा लगा।

“तो रहने दो। भगवान्‌ने हाथ हमें भी दिये हैं। जैसी हो पायेगी,

खुद ही ठीक कर लेंगे ! आप कष्ट न करें !”

जानती हूँ जो सुविधाएँ पानेके वे आदी हैं उनके न मिलनेपर झुंझलाना स्वाभाविक ही है। अगर वे चाहते हैं कि कपड़े निकालकर पहनते समय बटन सही सलामत हों, साइकिल उठाते समय कल शामको खरीदी तरकारी वास्केटमे ही न पड़ी मिले, दफ़्तरके ज़रूरी कागज़ ठिकानेसे रखे जायें, खाना समयपर तैयार हो जाये और मैं स्वयं परोसकर खिलाऊँ—तो ठीक ही तो है। किसी अनहोनी बातकी माँग नहीं है। लेकिन मैं भी क्या करूँ? किधर-किधर ध्यान दूँ?

ज़िन्दगीकी दौडमे अनगिन डोरोंसे बँधो हुई मैं हर कदमपर देखती हूँ कि कोई डोरा टूट गया, कोई उलझ गया, लेकिन इतना अवकाश कहाँ है कि उन्हें जोड़ सकूँ, सुलझा सकूँ। यही मनाती हूँ कि ये बन्धन बने रहे और मुझे इसी तरह जकड़े रहे। मैं थकूँ नहीं, रुकूँ नहीं।



दिवा-स्वप्न

सुबहके काम-धन्धेका एक दौर समाप्त हो गया। भाई-बहन स्कूल-कॉलेज चले गये। पिताजी ढेर हो जानेके कारण माँपर बिगडते हुए अपनी सचड़ा साइकिलपर दफ्तरके लिए रवाना हो गये। माँको पड़ोसकी चम्पा बुआ अचारका मसाला दिखानेके लिए पुकार ले गयी।

मौका पाते ही मेरे पैर ऊपरके अपने इस एकान्त कमरेकी ओर बढ़ जाते हैं। कितनी शान्ति है यहाँ, कितना सुख ! यहाँ बैठकर मुझे ऐसा लगता है जैसे किसी भटकी हुई राजकुमारीको कोई उसके महलमे वापस पहुँचा दे।

सामनेवाले मकानमे कोई किरायेदार आ गये हैं क्या ? यह खिडकी कई दिन बाद खुली दिखायी पड़ रही है। लेकिन इसे खोला किसने ? अभी जब मैं ऊपर आयी थी तब तो यह बन्द थी शायद; कौन आकर खोल गया ? ऊँह ! होगा कोई। मुझे क्या ?

आज तो मैंने अभी तक चोटो भी नहीं की। सोचा था धोती बदल लूँगी, सो भी नहीं हो पाया। बिखरी हुई लटें, गन्दी धोती, रूखा-रूखा चेहरा—लगता है जैसे अभी कहीसे बर्तन माँजकर चली आ रही हूँ। मुझे इतनी लापरवाहीसे नहीं रहना चाहिए। कोई देख ले तब ! क्रीम-पाउडर लगाकर जूड़ा बाँध लेनेसे तो जैसे चेहरेकी रंगत ही बदल जाती है। मुझ-पर यह बादामी रंगकी धोती बहुत खिलती है। आज इसीको पहनूँगी।

इस कैलेण्डरमें चार दिन पहलेकी तारीख लगी है, किसीको बदलनेका ध्यान नहीं आया। जो कुछ कहूँ, मैं कहूँ; दूसरा कोई हाथ ही नहीं हिलाना चाहता। छोटे, पप्पू और रम्मू दुलारे बटे ठहरे : वे तो अपने हाथसे पानी लेकर पी लें—यही बड़ी बात है। रह गयीं कुम्भो और बिन्नी। उनके लिए

पढाईका बहाना हर समय तैयार रहता है। कभी किसी सहेलीके घर नोट्स उतारने जाना है, कभी कॉलेजके किसी नाटकमे भाग लेना है तो कभी इम्तहान सरपर है। माँ भी उनसे कुछ नहीं कहती—काम करनेके लिए मैं जो हूँ। पुरानी तारीख लगी रहे, मेरा क्या जाता है ! सारा साल यही लगी रहे !

धीरे-धीरे सबसे कितनी दूर खिंच आयी हूँ। भाई-बहनोंकी सफलतासे अब ईर्ष्या होती है, माँ-बापकी प्रसन्नतापर असन्तोष होता है। लगता है कि मैं बिल्कुल अकेली हूँ और वे सब मेरे विरुद्ध कुछ षड्यन्त्र रचनेमे लगे हैं। शुरूसे ही मेरे प्रति अन्याय हुआ है। मुझे भी पढाया होता तो मैं भी और सबकी तरह सुशिक्षित होती, लेकिन मुझे इतना कहनेपर भी आठवी तक ही पढाया। माँ कहती है : क्या किया जाये, उस समय लड़कियोंको ज्यादा पढानेका रिवाज नहीं था ! जैसे मुझमे और कम्मोमे बीस-पच्चीस वर्षका अन्तर है ! आजको मैं भी बी. ए.-एम. ए. होती तो ठाठसे कहीं नौकरी कर लेती। तब तो जीवनका नक्शा ही बदल जाता। किसी दिन लौटनेमे जरा देर हो जाती तो घरमे पाँव रखते ही माँ हाथका काम छोड़कर मेरे पाप दौड़ी आती, “आज बड़ी देर हो गयी ? ऐसी नौकरी भी किस कामकी ! बेटी मेरी कुम्हला गयी.....जा, तू अपने कमरेमे आराम कर। कम्मो चाय बनाकर ऊपर ही दे जायेगी.....”

“बेटा, कुछ तबीयत खराब है क्या ?” पिताजी मुझे नीचे न पाकर पूछने आते।

“दोदीजी, यह मूँगकी दालका हलवा खा लो; और माँ पूछ रही है कि तुम्हारी चाय दूधमे ही बना दें ?” तीनो भाई भी घेर लेते। कोई सिर दबानेको पूछता, कोई दिन-भरकी शरारतोंका ब्योरा सुनाता तो कोई सहमा सहमा-सा दूर खड़ा मुझे देखता रहता। चारों ओर आदर-सत्कार, स्नेह-दुलार !

तब रोज़ सुबह-शाम गलीमें आते-जाते बिशन भी मुझे देखता। और

एक शाम, अपने बेटेके लिए किसी लखपतोके घरसे परी-सी बहू लानेको आतुर उसकी लडाका माँ आतीं और माँसे गिड़गिड़ाकर कहती,

“बहिनजी, अब तो मेरी लाज तुम्हारे हाथ है !”

“क्यो—क्या हुआ ?” माँ चौककर पूछतीं ।

“मेरा बिशन तो तुम्हारी रानीके लिए पागल हो रहा है । कहता है कि शादी करूँगा तो उसीसे, वरना हमेशा कुंवारा रहूँगा । मैंने बहुत समझाया लेकिन....”

“देखिए बहिनजी, बात मैं साफ़-साफ़ कहूँगी । आप बुरा मत मानिएगा । शादी-ब्याहका मामला है, मैं बिना रानीसे पूछे कुछ नहीं कह सकती । सयानी-समझदार लड़की है । आप तो जानती ही है कि रानी अबतक शादी करनेको राजी नहीं थी । एकसे-एक अच्छे घरोंमे बात चलती रही लेकिन उसने हामी नहीं भरी । वह मान जाये तो मुझे तो इसमे बहुत ही खुशी होगी !”

माँ मेरे सामने सारी स्थिति स्पष्ट करती । मैं अनमने भावसे स्वीकृति दे देती । घरमे प्रसन्नताकी लहर दौड़ जाती । विवाहकी तिथि पक्की हो जाती । निमन्त्रण-पत्र, अतिथियोंकी हलचल, दहेजके सामान और भेंटमे मिली चीजोंसे भरा घर ! दिन पंख लगाकर उड़ने लगते और रातें एक अनजाना गीत सुनाने लगती ।

सामनेवाले मकानकी खिड़कीसे भीतरके कमरेका कुछ भाग दिखायी पड़ रहा है । एक झीना-सा हवामे उड़ता हुआ परदा और उसके पीछे दीवारपर खूँटीपर टंगे कुछ कपड़े । एक बलिष्ठ हाथ बढ़ा और खूँटीपर टंगा कुरता उठाकर हट गया । कौन है वह ? क्या वह जानता है कि खिड़कीमे-से मैं झाँक रही हूँ ? क्या वह इधर आयेगा ? हे भगवान्, दीवारें भी परदेके समान झीनी क्यों नहीं है ?

अब यहाँ बिलकुल मन नहीं लगता । जानती हूँ इन लोगोंके पास कभी इतना पैसा नहीं होगा कि मेरे लिए उपयुक्त वर जुटा सकें; और फिर अब

मुझे पसन्द भी कौन करेगा ! जो मुझे देखने आता है, वही कम्मो या बिन्नी को पसन्द करके लौट जाता है ! मुझे इन सबकी सेवा-टहल करके ही सन्तोष करना होगा । इसी तरह घुल-घुलकर जीवन काटना होगा !

सामनेवाले घरकी किसी बुढियाने अपने निर्मम हाथोसे खिड़की बन्द कर दी । क्या वह मुझे अविश्वास और घृणाकी दृष्टिसे देख रही थी ?

नीचे कोई चिल्ला रहा है । अरे ! यह तो माँ है । आलू जल जानेपर बिगड रही है । बिगडा करें । मैंने घर-भरके कामका ठेका नहीं लिया है ।

जी चाहता है चारो ओरसे घेरनेवाली इन मनहूस दीवारोको तोड़ डालूँ, जकडनेवाले बन्धनोकी ओर, दृष्टि उठाकर देखूँ भी नहीं । कही दूर चली जाऊँ.....लेकिन कहाँ.....कैसे ?

सामनेवाली खिड़की हवासे फिर खुल गयी है.....



खुला आकाश : मेरे पंख

[गीत]

गीत लिखना पुण्य भी है, पाप भी है !

पुण्य है, कारण किसी का प्यार इसमे,
पाप है, उन्मुक्त हाहाकार इसमे;
है विषमता कुछ यहाँ ऐसी अनोखी,
शान्ति से हँस खेलते अंगार इसमे,

यदि किमी को दे गये वरदान है ये, तो किसी को दे चुके अभिशाप भी है ।

गीत लिखना पुण्य भी है, पाप भी है ।

है जहाँ इतना विशद तूफान आता ,
स्वाति का लघु-कण वहीं पर घर बनाता;
दूर देशों को किया करता उदधि जो,
भूमि को है व्योम से वह ही मिलाता;

लघु लहर उर-सिन्धु मे उठती, थिरकती, निहित उसमे हर्ष भी, सन्ताप भी है ।

गीत लिखना पुण्य भी है, पाप भी है ।

गीत ये मेरे किसी को पीर देते,
मौन उर को मुग्ध करते, चीर देते;
बाँध कर जो विश्व को फिर टूट जाती
है अचानक, वह सुदृढ़ जंजीर देते

वेदनाएँ व्यक्त कर निज राग-स्वरमे, हो गये चुपचाप अपने आप ही है ।

गीत लिखना पुण्य भी है, पाप भी है ।



मौनतम आराधना मेरी न कोई जान पाया !

पंख उड़ सकते नहीं यदि
भावनाएँ ही न होतीं ,
प्राप्ति हो पाती नहीं यदि
कामनाएँ ही न होती ,
यदि न थोड़े स्वाति के कण
शून्य अम्बर मे बिखरते ,
तो न घन होता, न सागर
और यह होता न मोती ,

तृषित चातक साधना तेरी न कोई जान पाया !
मौनतम आराधना मेरी न कोई जान पाया !

चाहता भगवान् , उसका
भक्त भी भगवान् होवे ,
चाहता वरदान, जो दे-
दे वही वरदान होवे ,
चाहतीं कवि की सुकोमल
कल्पनाएँ , ओस बन कर ,
मौन कवि के अश्रु का प्रति-
बिन्दु शत-शत गान होवे ,

भक्त, दृढ़तर साधना तेरी न कोई जान पाया !
मौनतम आराधना मेरी न कोई जान पाया !

हाथ, जो थे आज तक
फैले किसी के भी न आगे,
सह सभी अभिशाप, थे
वरदान भी जिनने न मांगे,
आज जग के हेतु भिक्षा
मांगने को जब बढ़े ये,
रिक्त लौटे, सोचते हैं जग
पतित, या ये अभाग ,

भिक्षु, पावन याचना तेरी न कोई जान पाया !
मौनतम आराधना मेरी न कोई जान पाया !

दूर मैं करती रही थी
पन्थ पर के शूल सारे ,
किन्तु कुछ वे थे, कि हँसते
थे सुमन जिनके सहारे ,
वे चुभे जब, उस समय ही
फूल ने सौरभ लुटाया ,
घोल मैंने मधु दिया
लेकर दृगों के बिन्दु खारे ,

लोकहित की कामना मेरी न कोई जान पाया !
मौनतम आराधना मेरी न कोई जान पाया !



मिल गया बस एक तारा !

भावना मे मुक्ति देने,
याचना मे तुष्टि देने,
के लिए दृग माँगते थे, बिन्धु से नभ का किनारा !
मिल गया बस एक तारा !

छू न ले शशि की सुनहली
झिलमिलाती ज्योति पहली
तम कही, यह रोकने को रात ने आँचल पसारा !
मिल गया बस एक तारा !

लड़खड़ा कर गिर न जायें ,
पन्थ पर ही रुक न पायें ,
मिल गया कम्पित करों को एक कन्धे का सहारा !
मिल गया बस एक तारा !



जो एक बार चल पड़ा उसे मत रोको !

रोको न समय को, नही निलय को रोको,
रोको न हार को, और न जय को रोको,
अवरोध स्वयं अवरोधक की निर्बलता !
जो एक बार चल पड़ा उसे मत रोको !

चलने वाले का भ्रम शूलों का भय है ,
ध्रुवतारा केवल पद-गति का निश्चय है ,
तूफान स्वयं है सागर की भावुकता !
जो एक बार चल पड़ा उसे मत रोको !

रोको तो केवल रुक जाने की इच्छा ,
रोको तो बस संबल की सहज प्रतीक्षा ,
चलना, चलने वाले के लिए विवशता !
जो एक बार चल पड़ा उसे मत रोको !



ज्योति जला दोगे घर-घर मे, अन्धकार का फिर क्या होगा ?

स्वर्ण लुटा दोगे कण-कण मे
तो निर्धनता कहाँ रहेगी ?
खोई निद्रा-सी नीरवता
किससे अपनी बात कहेगी ?

जीत सभी यदि पा जायेंगे, भला हार का फिर क्या होगा ?
ज्योति जला दोगे घर-घर मे, अन्धकार का फिर क्या होगा ?

किसमे जाकर छिप पायेगो
तब फिर मानव मन की पशुता ?
देवों का उपहास करेगो
किस परदे मे छिप दानवता ?

सब कुछ पावन हो जायेगा, अश्रुधार का फिर क्या होगा ?
ज्योति जला दोगे घर-घर मे, अन्धकार का फिर क्या होगा ?

कैसे नभ से भू पर उतरेंगे
पागल सपनों के मोती ?
जिन्हें रात-भर प्राची अपने
पंखों पर थी रही सँजोती ?

जब विवेक ही रह जायेगा, मधुर प्यार का फिर क्या होगा ?
ज्योति जला दोगे घर-घर में, अन्धकार का फिर क्या होगा ?

किस कोने से निकल सकेगी
मेरे कवि की ध्वनि पहचानी ?
जो युग-युग से बनी रही है
धूलभरी छाया की रानी ,

पूर्ण बनेगा जब मानव ही, इस सुधार का फिर क्या होगा ?
ज्योति जला दोगे घर-घर में, अन्धकार का फिर क्या होगा ?



हार-जीत की जंजीरों को तोड़ो
 घृणा-प्यार के पाश नही रहने दो
 अविकल प्रवाह से मत नौका को बाँधो
 जिस ओर, जिधर भी बहती हो, बहने दो !
 जब अहं भाव मे आत्मा सीमित होती
 वह शक्तिहीन हो जाती है, मुरझाती
 विश्वास, बुद्धि का संबल खो देता है
 दे नहीं ज्योति पाती प्राणो की बाती !
 कर्मों के बल को मत भूलों से तोलो
 शूलों से मत मापो चरणों की क्षमता
 विश्राम स्वयं ही विषम, और शाश्वत गति
 पथिकों को देती आत्म-चेतना, समता !
 झुरमुट से कह दो नही मलय को रोके
 सागर-तट रोके नही प्रलय के क्षोंके !



ऊषा की जयमाल सुनहरी !

हिमगिरि के उन्नत मस्तक पर

यह कैसा प्रकाश का निर्झर

बहता है,

अभिनन्दन करती है जिसका मलयज की लहरी !

ऊषा की जयमाल सुनहरी !

गंगा के पुलकित अञ्चल में

कौन विहग के मृदु कलकल में

कहता है,

मे प्रकृति-भवन के राजद्वार का अविचल प्रहरी !

ऊषा की जयमाल सुनहरी !

चमक उठा है धुंधला अम्बर

जो तम का बन्दी बन निशि भर

रहता है,

भर ओस बिन्दुओं में अपनी निःश्वासें गहरी !

ऊषा की जयमाल सुनहरी !



मुग्ध सावन की दुपहरी !

उष्णता अड़ कर खड़ी है,
छाँह को घेरे पड़ी है,
घूमते, फेरी लगाते बादलों के व्यग्र प्रहरी !
मुग्ध सावन की दुपहरी !

ज्योति दिन की खो गयी है,
रात दिन-भर रो गयी है,
नील नभ में श्वेत गिरि के शीश पर रेखा सुनहरी !
मुग्ध सावन की दुपहरी !

बन्दना के गीत गा कर,
हाथ ऊपर को उठा कर,
कह रहा कुछ विश्व भर कर आह ठण्डी, साँस गहरी !
मुग्ध सावन की दुपहरी !

आज हुई सन्ध्या दीवानी !

कलरव बन कर चिल्लाती है,
तारों से उलझी जाती है,
दिन से चीख चीख कहती है, मैं हूँ अस्ताचल की रानी !
आज हुई सन्ध्या दीवानी !

उसकी धूमिल काया दुर्बल,
निज में लय करने को व्याकुल,
फैली हुई भूमि की ज्वाला, बिखरा हुआ व्योम का पानी !
आज हुई सन्ध्या दीवानी !

सपनों में जागृत भर देने,
चिर प्रसुप्ति में गति भर देने,
के हित चन्दा से कहती है अन्तहीन रस-भरी कहानी !
आज हुई सन्ध्या दीवानी !



रह गयी फिर भी अधूरी ही कहानी !

रात ने हर रोज़ तारों को सुनायी
किन्तु वह पूरी कभी हो ही न पायी,
चाँद किरणों से उसे जब लिख न पाया
गीत में कवि ने उसे ला कर सजाया,

किन्तु उसमें प्राण जो भर दे कभी भी, मिल नहीं पायी उसे सुकुमार वाणी !
रह गयी फिर भी अधूरी ही कहानी !

अश्रुओं के जोड़ कर तिनके सजीले
नीड रचना चाहते थे द्विज हठीले,
किन्तु हो जब वृक्ष की हर डाल प्यासी
किन्तु हो जब पख़ पर छाया उदासी,

तब भला गृह बन सकेगा किस तरह से, जब कला भी यह स्वयं उसकी अजानी !
रह गयी फिर भी अधूरी ही कहानी !

आदि है निश्चित, भविष्यत है अँबेरा
शिथिल पग का पन्थ पर हो है बसेरा,
तुम उसे सुनते रहो, कहती रहूँ मैं
तुम रहो पाथेय, प्रिय, बहती रहूँ मैं,

बीच में ही छूट जाती और मुझको, आदि से ही प्रति दिवस पड़ती सुनानी !
रह गयी फिर भी अधूरी ही कहानी !



मेरे दुर्बल मन का यदि तुम प्यार न लोगे, प्यार न दोगे !

तो सागर-सा सूना व्यापक अन्तराल सूना भटकेगा,
 मेघदूत का यक्ष पतन के गिरि पर आ करके अटकेगा,
 मुक्त दिशाएँ अपनी बाँहे फैला कर उसको पकड़ेंगी,
 उसे ग्रास कर लेने के हित भू का स्वर्णिम हृदय फटेगा,
 आकर्षण नीचे खीचेगा, वायु उसे ऊपर फेंकेगी,
 तुम अपने पावन चरणों का यदि उसको आधार न दोगे !
 मेरे दुर्बल मन का यदि तुम प्यार न लोगे, प्यार न दोगे !

केवल एक तुम्हारे आगे मेरा अविचल शीश झुका है,
 बिना तुम्हारी स्वीकृति तुमको वह अपना ही मान चुका है,
 यह न समझना उसके चंचल चरणों की गति मन्द हुई है,
 देख तुम्हारा मन्दिर, देहरी तक आकर के चरण रुका है,
 जग के मरुथल चरागाह में फिर मेरा मन-मृग लौटेगा,
 यदि अपने तक आ जाने का तुम उसको अधिकार न दोगे !
 मेरे दुर्बल मन का यदि तुम प्यार न लोगे, प्यार न दोगे !



अब व्यथा की बात मत कह ।

धूप आँगन में उतरती,
छाँह कोने में सरकती,
पवन बोली, 'बन्द कमरों में चली जा और छिप रह !'
अब व्यथा की बात मत कह ।

चूमते ही किरण पहली,
खिल गयीं कलियाँ सुनहली,
घेरती, फेरी लगाती है ; चतुर्दिश गन्ध बह, बह ।
अब व्यथा की बात मत कह ।

बन गये हैं स्वप्न जागृति,
है निशा की हो चुकी इति,
अब अँधेरे का भवन भी है चुका ढह, है चुका ढह ।
अब व्यथा की बात मत कह ।



हार जीत तो नश्वर, केवल कर्म अमर है !

अधिक काल तक रह पाये तूफ़ान नहीं है,
शाश्वत बन पाये जयश्री के गान नहीं है,
अमर नियति के भी होते वरदान नहीं है,
लक्ष्य प्राप्ति तो अविकल गति का चिर विराम है,
किन्तु अनश्वर पथिकों के चलने का स्वर है !
हार जीत तो नश्वर, केवल कर्म अमर है !

विजयी नहीं महान् विजय में, सतत कर्म मे,
जैसे साधक नहीं मुक्ति में, अटल धर्म मे,
और मनुज मानवता के गम्भीर मर्म में,
हार जीत तो सिद्ध-कर्म के पद की दासी,
और कर्म इनकी सीमाओं से बाहर है !
हार जीत तो नश्वर, केवल कर्म अमर है !

केवल यश से कर्म नहीं नापा जाता है,
मेरा मन तो एक माप का ही ज्ञाता है,
कौन कोष संस्कृति का कितना भर पाता है,
सागर-तल के सदृश कर्म के प्रति आस्था है,
फल की इच्छा तट पर रोती हुई लहर है !
हार जीत तो नश्वर, केवल कर्म अमर है !



तुम्हारे अन्तस की पीड़ा, तुम्हारा भटका-भटका मन !

सरल मुस्काने में पीड़ा,
गीत के गाने में पीड़ा,
बनाती मधुश्रुतु को सावन !

तुम्हारे अन्तस की पीड़ा, तुम्हारा भटका-भटका मन !

पन्थ के शूलों का क्या भय,
नियति की भूलों का क्या भय,
किन्तु कर देती शिथिल चरण !

तुम्हारे अन्तस की पीड़ा, तुम्हारा भटका-भटका मन !

चाहती मैं बन कर विश्राम,
तुम्हारे चंचल पद लूँ थाम,
ज्योति की पा लूँ अरुण-किरण !

तुम्हारे अन्तस की पीड़ा, तुम्हारा भटका-भटका मन !



हार जीत की प्रथा बहुत हो चुकी पुरानी
 कर्मों को मत पृथक्-पृथक् भागों में बाँटो
 जीवन पावक-पुञ्ज, श्वास की निर्बल गति से
 दो विभिन्न टुकड़ों में मत इस विधि से काटो !
 क्योंकि हार तो स्वयं जीत की पूर्वकथा है
 और जीत में छिपा हार का भय रहता है
 इन दोनों से परे किसी दूरस्थ लोक से
 आ कर के कोई कानो में यह कहता है—
 तू मत इनमें उलझ, न कम कर पद की गति को
 बहुत दूर है पथिक अभी तो तेरी मजिल
 यह क्या ? तेरे पग अब से ही काँप रहे हैं
 और घड़कता है प्रति डग में ही तेरा दिल !
 यों मत घबड़ा, रोक अश्रुओं की बरसातें
 और छोड़ दे हार-जीत की सारी बातें !



आधी धूप; आधी छाँह !

गति के साथ पूर्ण विराम,
दिन के साथ धुँधली शाम,
शशि के गमन मे ही अंशुमाली का छिपा उत्साह !
आधी धूप; आधी छाँह !

मन पर भार, मन मे प्यार,
मन की जीत, मन की हार,
अधरों पर हठीली हास की रेखा, कर्णतम आह !
आधी धूप; आधी छाँह !

मेरा लोभ, मेरा त्याग,
मेरा मोह और विराग,
दोनो के अनिश्चित रूप मे अंकित किसी की चाह !
आधी धूप; आधी छाँह !



आराध्य न अब साकार बनो !
 प्रतिमा में और पुजारी मे, थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा;
 नीरव नयनों मे, अधरों मे, थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा ।
 कुछ अन्तर तो होता ही है, अभिव्यक्ति और अनुभव मे भी;
 फिर सत्य-कल्पना मे भी तो, थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा ।
 मैं सीमित हूँ, तुमको असोम रखने मे ही अभिमान मुझे;
 संसार बसा सकने वाले, बस स्वयं न तुम संसार बनो ।

आराध्य न अब साकार बनो ॥

हो कभी पूर्णता पायी है, दुख-सुख मय जग मे मूर्तिमान;
 मिट्टी की प्रतिमा मानव का, मन्दिर कब कर पायी महान ।
 भावों के स्वप्निल रङ्गों से, मैं रूप सदा भर लिया कहूँ;
 तुमको जो-जो करना चाहूँ, बस पूज-पूज कर लिया कहूँ ।
 अनुमान सत्य से होता है, वैसे भी ज्यादा आकर्षक ;
 मैं तुम्हे सजाऊँ, बदले मे तुम मेरे ही शृंगार बनो ।

आराध्य न अब साकार बनो ॥

बासन्ती कोयल कहती है, 'मुझको मेरा मधुवन बन्धन,'
 मधुवन की कलियाँ कहती है, 'मुझको मेरा यौवन बन्धन ।'
 यौवन कहता, 'मैं शैशव के कोमल भावों से मुक्त नहीं,'
 भावों ने आकर कहा, 'मुझे कविता का आमन्त्रण बन्धन ।'
 आमन्त्रण की दृढ़ कड़ियों से पद-कमल तुम्हारे कब स्वतन्त्र !
 फिर मेरी श्वासों के बन्दी, मत मेरे कारागार बनो !

आराध्य न अब साकार बनो ॥

मैं अभिशापोंमें पली सदा, बस क्षमा करो वरदान न दो !
 श्वासों के सूने अञ्चल में फिर से न बहे अब मलय वात;
 कमलों की गोदी में हँस-हँस अलि दे न सकें फिर से प्रभात ।
 मुझसे जग ने जब-जब पूछा 'ले लो जो वांछित हो तुमको';
 तब मैं बोली 'मुझको दे दो पतझड़ की सूनी एक रात ।'
 मेरी लौकिक आशाएँ तो शाश्वत विरक्ति में हुईं लीन;
 अब तो आहों का चाहों से प्रतिक्षण आदान-प्रदान न दो ।
 मैं अभिशापों में पली सदा, बस क्षमा करो वरदान न दो ।
 मानव की सीमा होती है, मानव की आशा होती है,
 उससे भी उन्नत नारी की, कल्पित परिभाषा होती है ।
 जिसके कर्तव्य न होते हैं, अधिकारों को छू निष्पवित्र;
 बस आत्म-शान्ति की ही जिसमें पावन-जिज्ञासा होती है ।
 सुख-दुख की मूक प्रतिध्वनियाँ जिससे टकराकर लौट गयीं,
 उसको भ्रमरों का आकर्षण, कलियों की मृदु-मुस्कान न दो ।
 मैं अभिशापों में पली सदा, बस क्षमा करो वरदान न दो ।
 चिड़ियों ने नोड़ों को खोजा, नोड़ों ने अपनी चिड़ियों को;
 मकरन्द लिये पत्ती-पत्ती जब खोज पड़ी पंखुड़ियों को ।
 तब आ सहसा कुछ खोया-सा, कुछ भूला-सा बन्दी-विरक्त;
 अपने हाथों में ढूँढ़ पड़ा, अपनी टूटी हथकड़ियों को ।
 मैं बोली 'जब चिर-मुक्ति तुम्हें स्वयमेव बन चुकी है बन्धन;
 फिर अपनी बन्दिन-श्वासों को कारा का नव-निर्माण न दो ।'
 मैं अभिशापों में पली सदा, बस क्षमा करो वरदान न दो !



मेरी परवशता का जग को अनुमान भला होगा भी क्यों !

वनमाली बोला कलियों से
 सौरभ बिखराओ तो धीरे,
 डाली के झूले पर बहार
 सावनकी गाओ तो धीरे,
 धीरे-धीरे पंखुड़ियों से छोड़ो लघु श्वासों का पराग ।
 खोलो धीरे से अवगुण्ठन, धीरे से ही भर लो सुहाग ॥

जाने क्या कहकर समझाया
 उँगली ने भूले अलियों से,
 फिर जाने कितनी समता से
 बोला वनमाली कलियों से,
 मेरी परवशता का जग को अनुमान भला होगा भी क्यों !

जीवन से फिर बोला विनाश
 जाना तो लेना पूछ ज़रा,
 आँसू पर तो प्रतिबन्ध नहीं
 गाना तो लेना पूछ ज़रा,
 बस पूछ ज़रा लेना पहले ढ़ँक ले प्रातः निज लाली को ।
 रजनी की धिर-उत्सुक बाँहें भर लें सन्ध्या मतवाली को ॥

फिर लेकर अपनी छाया में
 बुझते दीपक का मृदु-प्रकाश

छिपकर विवेक के कानों में
जोवन से फिर बोला विनाश,
मेरी परवशता का जग को अनुमान भला होगा भी क्यों !

प्रतिमा ने कहा पुजारी से
मैं आज स्वयं भगवान बनी,
तुम पूज सको मुझको जी भर
इसलिए स्वयं पाषाण बनी,
अब से दोनों हैं पृथक् नहीं, ज्यों कर्म, कर्म-पथ की दृढता ।
तुम पूज सके मुझको यह भी मेरी ही तो है दुर्बलता ॥

कुछ कह मन हलका करना था
अपने सच्चे अधिकारी से,
जाने कितनी लाचारी से
प्रतिमा ने कहा पुजारी से,
मेरी परवशता का जग को अनुमान भला होगा भी क्यों !



। एक गीत सब गानेवाले ।

एक ब्रह्म जिसकी सब माया,
 एक ज्योति जिसकी सब छाया ।
 सत्य एक है; पर अगणित हैं उसे समझनेवाले
 एक गीत सब गानेवाले ।

भूजा पूजित पर मनमानी,
 नश्वर मे अमरों की वाणी ।
 संसृति की सीमा का मानव कैसे भार सम्हाले;
 एक गीत सब गानेवाले ।

मुझको तो कण-कण प्यारा है,
 मुक्ति और बन्धन प्यारा है ।
 मेरा स्वर हो एक, एक हो प्रीति और सब पानेवाले;
 एक गीत सब गानेवाले ।



जीवन उपवन के तीन प्रहर !

शैशव की स्वप्न-लताओं पर जब नीड ब्रनाये गये कभी,
अधखुले नीड के झुरमुट मे कोकिल स्वर गाये गये कभी ।
कल्पना, कला की श्वासों में तब सत्य परखना चाहा था,
पर कलिका के मुरझाने का क्या दोष भला वनमाली पर ?

जीवन उपवन का प्रथम प्रहर शैशव की निर्जन डाली पर !

मधुऋतु की मधु-पंखुड़ियों मे अंकित कलियों की चाह नहीं,
पतझड़ को यह कह छोड़ दिया इसके तो दुख की चाह नहीं ।
सौरभ की मधुर लहरियों ने इतिहास स्वयं ही लिख डाला,
हो गया स्वतः जो मूर्तिमान प्रति श्वासों की लघु-धडियों मे

जीवन उपवन का मध्य प्रहर, मधुऋतु की मधु पंखुड़ियों मे !

पतझड़ की बिखरी आशा में विश्वास खोजता है किसको ?
विस्मृति की आत्म-कहानी मे इतिहास खोजता है किसको ?
निर्माण खोजता है किसको लेकर विनाश का लघु प्रदीप ?
जब मैं अपने को खोज पड़ी अपनी उलझो परिभाषा मे,

जीवन उपवन का अन्त प्रहर पतझड़ की बिखरी आशा मे !



सत्य नहीं बतलाया जाता !

मैं शब्दों की ज्योति जलाकर—

चली सूर्य को दीप दिखाने ।

कोई बोला—

जुगनू से—

ज्वाला को नहीं सजाया जाता !

सत्य नहीं बतलाया जाता ।

छन्दों में भावों को भरकर,

मैंने श्वासों से लिख डाला ।

कोई बोला—

इन गीतों में—

सुख-दुख नहीं सुनाया जाता !

सत्य नहीं बतलाया जाता ।

फिर भी जाने क्यों रहता है—

मेरा व्यर्थ प्रयास निरन्तर ?

कोई बोला—

परवशता का—

भेद नहीं समझाया जाता !

सत्य नहीं बतलाया जाता ।



ओ प्रवासी, मैं तुम्हारी राह !

मैं तुम्हारे चरण की पग रेणु,
मैं तुम्हारे अघर की वह वेणु,
रागिनी जिसकी तुम्हारी चाह !

ओ प्रवासी, मैं तुम्हारी राह !

तुम सुमन, मैं अंगराग पराग,
तुम भ्रमर, मैं उदय का अनुराग,
सिन्धु तुम, मैं हूँ तुम्हारी थाह !

ओ प्रवासी, मैं तुम्हारी राह !

आदि कवि तुम, मैं व्यथा का गीत,
तुम भविष्यत, मैं पुनीत अतीत,
तुम व्यथित, मैं हूँ तुम्हारी आह !

ओ प्रवासी, मैं तुम्हारी राह !



जीवन सतत प्रवाह निरन्तर उसको बहने दो !
यहीं मत रहने दो !

रुक जायेगा गति खोयेगा
कहीं भूमितल मे सोयेगा
विस्मृति में वह लय होयेगा
भार रूप काया ढोयेगा
तोड़ चलो चट्टान, कगारों को भी ढहने दो !
यहीं मत रहने दो !

श्वासों पर विश्वास चला है
कर्मों पर इतिहास चला है
छाया पर आभास चला है
संयम पर संन्यास चला है
सुनो पुकार लक्ष्य की जग जो कहता कहने दो !
यहीं मत रहने दो !

यहाँ सत्य है केवल चलना
व्यर्थ कल्पनाओं की छलना
व्यर्थ भाव का विकल मचलना
या पीड़ा का मौन उलहना
पौरुष को उस भाग्य-वृक्ष के मधु फल गहने दो !
यहीं मत रहने दो !!



कागज़के फूल

[कविताएँ]

जीवन मे असफलता के क्षण जितने कम हों उतना अच्छा !

पगली कोकिल यदि मधुऋतु को
क्षण दो क्षण प्यार करे तो क्यों ?
मधुऋतु भी कोकिल का अनुनय
यदि अंगीकार करे तो क्यों ?

दोनों को ही है ज्ञात, कि है
पतझड़ केवल अनुमान नहीं,
जिसका प्रतिद्वन्द्वी सबल, दिया
जग ने उसको सम्मान नहीं ।

जो बड़ ही जाते हैं पथ पर अनुमान लक्ष्य का किये बिना,
ऐसे ही भूले-भटके मन जितने कम हों उतना अच्छा !
जीवन में असफलता के क्षण जितने कम हों उतना अच्छा !

प्राणों की मौन नभस्थलि मे
आहों के घन घिर आये हों;
वह मर्म-भरी पहली उँगली
लाखों ही व्यक्ति उठाये हों !

नामों के बदले में दुनिया
कह-कह करके कुछ सर्वनाम;
अपने शंकित दृग के, कर से,
कर बेती हो हँस कर प्रणाम !

भोले-भाले-से मानव को जो भीषण भूलों से भर दे;
 ऐसे भी अभिशापित सावन जितने कम हों उतना अच्छा !
 जीवन में असफलता के क्षण जितने कम हों उतना अच्छा !

दो क्षण पहले तक जो शशि की
 आभा को भी हर लेता था,
 सागर के अभिमानी उर को
 जो चूस-चूस भर लेता था;

विद्युत की गर्जन के आगे
 जिसका मस्तक झुक सका नहीं;
 हिमगिरि से टकराया तो भी
 बढ़ गया, एक क्षण रुका नहीं;

मानव के चरणों में लोटा, कण-कण ने उसको ठुकराया;
 ऐसे भी निष्ठुर परिवर्तन जितने कम हों उतना अच्छा !
 जीवन में असफलता के क्षण जितने कम हों उतना अच्छा !

जिसको छू तितली की काया
 रंगों में स्वयं उलझ जाती ;
 फिर सहसा कुछ ले लेने को
 अपने प्यासे कर फैलाती;

कुछ पाने की अभिलाषा में
 तितली सब-कुछ खो देती है;
 धूमिल नभ की गोदी में बन
 नोहार तभी रो देती है;

अपना सौन्दर्य बढ़ाने को लाखों के यौवन लूट चुके,
 अम्बर के नीचे यह मधुवन जितने कम हों उतना अच्छा !
 जीवन में असफलता के क्षण जितने कम हों उतना अच्छा !

जिसके कारण प्रणयी का मन
अधरों पर आ रुक जाता हो;
भावुक आराधक का मस्तक
चरणों में ही झुक जाता हो;

जोशीले राही का दृढ़ पद
बढ़ने का साहस कर न सका;
जिसके आगे है उठा रहा
अभिमानि मस्तक भी किसका;
सिद्धान्त, सत्य, आदर्शों को जो दुर्बलता कर देते है;
ऐसे भी लोलुप आकर्षण जितने कम हों उतना अच्छा !
जीवन में असफलता के क्षण जितने कम हों उतना अच्छा !

अलि को बन्दी कर लेने को
संकेत निशा का होता है;
कलि को बन्दी कर लेने को
संकेत उषा का होता है;

दीपक पर घिर फिर आता है
प्रेमी पतंग ठन्माद लिये;
हँसते-हँसते जल जाता है
भूली-अधभूली याद लिये;
सम्भव न जिसे ठुकरा देना, स्वीकृति विनाश का द्वार बने;
ऐसे विद्रोही आमन्त्रण जितने कम हों उतना अच्छा !
जीवन में असफलता के क्षण जितने कम हों उतना अच्छा !!



मेरे इस जीवन पर दुनिया हँस ले जी भर, रो ले जी भर !

मधुमास जिसे छू लेने का अपना अधिकार समझता था ,
पतझड़ भी अपने सुख-दुख का जिसको आधार समझता था ।
जिसके रजकण से भरे चरण शशि को दर्पण दिखलाते थे,
जिसमें अपना प्रतिबिम्ब देख रवि अंगीकार समझता था ।
उसको देकर के ही मैंने यह उन्मन यौवन पाया है,
मेरे इस यौवन पर दुनिया हँस ले जी भर, रो ले जी भर !

मेरी आहें छू लेने को व्याकुल जग का अणु-अणु कण-कण,
मेरी चाहें छू लेने को व्याकुल जग का अणु-अणु कण-कण ।
मेरी भोली भावुकता को पा कर के इतना उदासीन,
मेरी बाँहें छू लेने को व्याकुल जग का अणु-अणु कण-कण ।
पर जब भूली-सी कह देती 'मैं तो इन सब के योग्य नहीं',
अपने आमन्त्रण पर दुनिया हँस ले जी भर, रो ले जी भर !

कोई बोला 'यदि दो न सुमन अंगार लुटा ही दो बाले !
यदि है विरक्ति जग से, अपने शृङ्गार लुटा ही दो बाले !
स्वीकार नहीं रखना जिसको, स्वीकार नहीं लेना जिसको,
बन सका तुम्हारे योग्य नहीं वह प्यार लुटा ही दो बाले !
मैं बोली 'मैं लूँगी न उसे, लेने न तुम्हें भी मैं दूँगी',
मेरी इस उलझन पर दुनिया हँस ले जी भर, रो ले जी भर !

मैंने उनसे उपहार लिया उपहार जिन्हें दे देना था,
मैंने उनसे सत्कार लिया सत्कार जिन्हें दे देना था ।

उनसे मैं जीवन भर खेली अपना खिलवाड़ समझ करके,
अपने रोने का हँसने का व्यापार जिन्हें दे देना था ।
देने वालों से बैँधी हुई लेने वालों से मुक्त नहीं,
मेरे इस बन्धन पर दुनिया हँस ले जी भर, रो ले जी भर !

आसक्ति किसी की बन जाती स्वीकृति पाकर ही आकर्षण,
उन्मुक्ति किसी की बन जाती स्वीकृति पाकर के ही बन्धन !
मृग कस्तूरी के भ्रम में ही मरुथलि में घूमा जीवन भर,
फिर भी पहचान नहीं पाया स्वयमेव वही तो है जीवन !
औरों को भी कर दिया तृषित निज की भी प्यास बुझा न सका,
मेरे इस जीवन पर दुनिया हँस ले जी भर, रो ले जी भर !



लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है !

मुक्ति भी है प्राप्त, बन्धन

भी मिले है;

हास के ही साथ, जलकण

भी मिले हैं;

क्योंकि मुझ में मोह है, संन्यास भी है !

लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है !

है मिला सत्कार भी

संवेदना भी;

है मिला आभार भी,

अवहेलना भी;

क्योंकि संशय भी, तथा विश्वास भी है !

लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है !

भूलता कोई, किसी को

याद युग युग;

मौन कुछ, कुछ को रही

क्रियाद युग युग;

क्योंकि विस्मृति है यहाँ इतिहास भी है !

लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है !

नाश मेरा हो गया, मिट

भी गया अब;

लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है !

२५३

खेल मुझको यह नहीं
कोई नया अब;
क्योंकि जग निर्माण भी है, नाश भी है !
लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है !

पंख पंछी के थके, वह
कुछ न बोला;
बस ज़रा पीछे हटा
आगे टटोला;
क्योंकि उसका नीड़ तो आकाश भी है !
लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है !

तब मिला, कुछ साथ तम के
ज्योति के कण,
है मिला पतझार, उसके
साथ सावन;
क्योंकि मन मे तुष्टि है तो प्यास भी है ।
लक्ष्य मेरा दूर भी है, पास भी है ।



साथ कितने दिन रहोगे मौन बन्धन और ?

आ किसी ने यह कहा
मानव सदा परतन्त्र;
नियति से चलता रहा है
यह हृदय का यन्त्र;

युग-युगों से खीज कर
नर ने किया विद्रोह;
अन्ततः उसको हुआ
निज बन्धनों से मोह;

कौन जाने किस लिए फिर आज कवि-मन पूछता है—
'साथ कितने दिन रहोगे मौन बन्धन और ?'

बहुत दिन दुख, सौम्य-सुख का
रौद्र प्रतिद्वन्दी रहा है;
बहुत दिन प्यासे अघर में
वह बना बन्दी रहा है;

है अशोभन हो चुका अब
शोक के प्रति भय तुम्हारा;
क्योंकि इससे तो नया भी
है नहीं परिचय तुम्हारा !

वेदना झुक कर पलक पर प्रश्न प्रायः पूछती है—
'साथ कितने दिन रहोगे मौन क्रन्दन और ?'

एक था वह रूप जिसने
मुग्ध-मृग को बाँध डाला;
एक वह जिसने कि कन्धों
पर भरा सावन सँभाला;

एक वह जलराशि-सागर
मौन प्यास बुझा न पाया;
कौन-सा वह रूप जिसने
सीप में मोती बनाया;

खो जिसे अमरत्व-उपवन 'पा गया मधुमास,
'साथ कितने दिन रहोगे मौन जीवन और ?'



बन्धन, तुम्हे मुक्ति का दान !

कलियो, छोड़ चलो मकरन्द,
अलियो, छोड़ चलो अरविन्द,
अब क्यों नीड़ों का निर्माण, पंखों को मिल चुकी उड़ान !
बन्धन, तुम्हे मुक्ति का दान !!

दूगधारा ने लड़ियाँ तोड़,
लघु कारा ने कड़ियाँ तोड़,
लेकर स्वासों में अवसान, छोड़ दिया कूठा मेहमान !
बन्धन, तुम्हें मुक्ति का दान !!

अपने सूने हाथ टटोल,
अपने ही मन से कुछ बोल,
पा न रहे हो अभी प्रमाण, जो कुछ तुमको हुआ प्रदान !
बन्धन, तुम्हें मुक्ति का दान !!



चिर मुक्ति न दे पायी जिसको, उसको फिर बन्धन हूँ तो क्यों ?

मधुमय प्रभात की वेला में,
रवि ने सन्ध्या का किया मोल;
तब कमल दलों ने भ्रमरों को,
निज बन्दीगृह से दिया खोल;
तो ओ मेरे भोले बन्दी !
तुम भी निज को आजाद करो;
फिर साहस लेकर एक बार,
सूनी कुटिया आबाद करो !

मैं आत्म-समर्पण कर न सकी, झूठा अभिनन्दन हूँ तो क्यों ?
चिर मुक्ति न दे पायी जिसको, उसको फिर बन्धन हूँ तो क्यों ?

शशि-तारावलि-सा विभव जान,
तुम हाथ बढाओगे कबतक ?
राही दो दिन की मंजिल है—
आखिर पछताओगे कबतक ?
मेरी विरक्ति में निज कल्पित
विश्वास छिपाओगे कबतक ?
फिर भूली भटकी भूलों की
उलझन सुलझाओगे कबतक ?

जिससे आकर्षित हो न सकी, उसको आकर्षण हूँ तो क्यों ?
चिर मुक्ति न दे पायी जिसको, उसको फिर बन्धन हूँ तो क्यों ?

क्यों जीवन अभिनय का सहसा
कर दिया मुझे ही सूत्रधार ?
मेरे इन कम्पित हाथों मे
नायक कब है साहस अपार ?

लो शून्य यवनिका के पीछे
नेपथ्य किसी से बोल उठा :
'क्षण मे होना है पटाक्षेप—
अन्तिम निर्णय, अन्तिम पुकार ।'

जब बन न भूमिका ही पायी, फिर पट परिवर्तन दूँ तो क्यों ?
चिर मुक्ति न दे पायी जिसको, उसको फिर बन्धन दूँ तो क्यों ?

तुम देनेवाले बने रहे
मैं लेनेवाली बन न सकी;
तुम बन करुणा का स्रोत बहे
मैं उसका जीवन बन न सकी;

अपनी टूटी नौका लेकर
तुम तूफ़ानो मे उतर पड़े;
लेकर के तुम उत्सर्ग गये
मैं मौन विसर्जन बन न सकी ।

जिसको अबतक अपना न सकी, उसको अपनापन दूँ तो क्यों ?
चिर मुक्ति न दे पायी जिसको, उसको फिर बन्धन दूँ तो क्यों ?

निश्चित सुख-दुख की सीमाएँ,
आशा का होता अन्त नहीं;
किस जीवन पतझड़ मे आता,
हँस-हँस कर पुनः बसन्त नही ?

यह तो अनन्त की राह पथिक,
कब अपने, अपने रहे सदा ?
कल्पना सत्य हो जाती है,
कब सपने, सपने रहे सदा ?

भगवान न जिसकी बन पायी, फिर पूजा अर्चन लूँ तो क्यों ?
चिर-मुक्ति न दे पायी जिसको, उसको फिर बन्धन दूँ तो क्यों ?

जब दीपावलि की प्रथम-ज्योति
अपनी ही लय में हुई लीन;
तब नीरव-नयनों के आगे
आयी किसकी प्रतिमा-मलीन ?

मैं बोली पुण्य-पुजारी अब
भूलो तुम फूलों की सुस्मृति;
लो भस्म लगाते बढ़ जाओ
यह इसकी इति, इसकी निष्कृति ।

तुमने तो रोली चाही थी, बदले मे चन्दन दूँ तो क्यों ?
चिर मुक्ति न दे पायी जिसको उसको फिर बन्धन दूँ तो क्यों ?



गीत दो तो प्रीति मत दो ।

मुक्त यदि बाँहें, चरण में
फिर सुदृढ जंजीर मत दो;
दे रहे बलि और वेदी
तो हृदय मे पीर मत दो;
आग यदि देते अधर मे, रागमय संगीत मत दो !
गीत दो तो प्रीति मत दो !

शक्ति यदि देना तुम्हे
तो शत्रु दो, मैदान दे दो;
और चाहे कुछ न दो
पर मृत्यु से पहचान दे दो;
देशना-संग्राम हो तो पूर्व ही से जीत मत दो !
गीत दो तो प्रीति मत दो !

मैं खड़ी इस पार, मेरा
लक्ष्य तो उस पार ही है;
बीच में तूफ़ान, तम है,
और पारावार भी है;
छाड़-दाल-अधर मे. कोई सरल-सी रीति मत दो !
गीत दो तो प्रीति मत दो !



सम्भव है कितना परिवर्तन !

सच से झूठ, झूठ से माया,
 सुख से दुःख, दुःख से छाया;
 क्रमशः नर पाने लगता है उदासीनता में आकर्षण !
 सम्भव है कितना परिवर्तन !

अधरों पर मधु, नयनो मे जल,
 हृदय उदधि को आहों का बल;
 देख किनारा पास, माँगता है लहरो से मौन विसर्जन !
 सम्भव है कितना परिवर्तन !

कोमल बन पिघला न सका जो,
 नर की श्रद्धा पा न सका जो,
 आज झुका लाखों को लेता, वह ही मन्दिर का पत्थर बन !
 सम्भव है कितना परिवर्तन !



कलिके, तुम मत म्लान हो !

भूले भटके यदि चुभें,
 कहीं न डरना शूल से;
 आ लिपटे तुम से कभी,
 भय न तुम्हें हो फूल से;
 तुम इन दोनों के लिए भेट नहीं, मेहमान हो !
 कलिके, तुम मत म्लान हो !

कोकिल यदि बोले कभी,
 तुम सुन लेना मौन हो;
 चुप रहना, पूछे अगर
 कोई तुम से, कौन हो ?
 चाहे विष का दान हो, अथवा मधु का पान हो !
 कलिके, तुम मत म्लान हो !

कहता है-हँस कर पवन,
 सौरभ तुम मे बन्द है;
 पर उसको भी पा सका,
 कवि कितना स्वच्छन्द है;
 तुम मन का हठयोग हो; कला और कल्याण हो !
 कलिके, तुम मत म्लान हो !



जिया नहीं मैंने इस रस भीने जीवन को
 बस यूँ ही काट दिया ।
 सचय कुछ किया नहीं
 जो कुछ भी पाया
 रख भावों की सीपो में
 औरों को बाँट दिया ।
 जिया नहीं मैंने इस रस भीने जीवन को
 बस यूँ ही काट दिया ।

झुरमुट के पीछे खलनायक-से झाँकते
 जादूगर चाँद को,
 सोलह बरस की किशोरी-सी डोलती
 चंचल बयार को,
 निहारा तो मैंने भी;
 किन्तु 'गोली लकड़ी के धुएँ से
 घुटे मन आलोचक ने
 ध्यान नहीं दिया, उन्हे केवल धिक्कारा ही ।
 औरों के जीवन मे
 क्या है जो कानो मे
 गीत गुनगुनाता है ?
 क्या है जो सपनों को
 पंख सौ लगाता है ?
 यहाँ तो अपने है, प्यार है, सहारा है,

फिर भी तपी रेत-सा यह मार्ग
बस पाँव ही जलाता है !
समय के बोझ से दब कर कराहते
मन में यही अरमान रह जाता है
जिया नहीं मैंने, इस रस भीने जीवन को
बस यूँ ही काट दिया !



कितने सपने ?
 उतने ही, जितने जीवन में
 सगे-सहोदर
 साथी अपने ।

कितना दुःख ?
 उतना ही, जितना इस मन ने
 माँगा है इस
 जगती से सुख ।

कितनी आशा ?
 जितनी मन में मौन
 निराशा की उलझी
 लिपटी परिभाषा ।



हर पंक्ति मे
 रसोई को खिड़की से
 चोर-सा भागता
 धूर्त धुआँ है ।
 घुटन है !

हर पंक्ति मे
 गुँघा हुआ आटा
 जली हुई दाल
 घिसे हुए कपड़े
 टूटे बटन हैं !

फिर भी इन्हे
 कस कर पकड़े हूँ
 थामे हूँ, जकड़े हूँ
 क्योंकि इनसे मुक्ति
 मेरा मरण है !



कोई माप नहीं

उस दर्द का, उफ़ ! उस दर्द का कोई माप नहीं !

जब कोई यह जान ले
कि उसके पास अपना एक शब्द भी नहीं
जिसे वह वर्तमान और भविष्य के
भिक्षुकों की झोली में डाल दे;
रह जाय मौन, रिक्त, लुटा-सा
जैसे उस पर कोई शाप कहीं ।

उस दर्द का, उफ़ ! उस दर्द का कोई माप नहीं !

पागल-सा हर गली, चौराहे पर
खोजे वह पराया दर्द
जो आकर मन में बस जाय
ढीले तार कस जाय
किन्तु पराया, पराया है
उस पर अपनी कोई छाप नहीं ।

उस दर्द का, उफ़ ! उस दर्द का कोई माप नहीं !



नीम की सूखी पत्तियाँ और धूल-भरे पाँव

बर्फ के गालों-सी
 झड़-झड़ कर गिरती
 नीम की ये सूखी पत्तियाँ
 जमा हैं यहाँ ।
 मेरे धूल-भरे पाँव
 इन्हे रौदने-कुचलने को
 बार-बार मचलते हैं
 असहाय, बूढ़ी पत्तियों के
 अकारण अपमान पर
 लज्जित हूँ, डरती हूँ
 फिर भी इन्हे चूर कर
 अनुभव में करती हूँ
 बर्बर सन्तोष का ।

मन का यह झंझावात
 रोक रहा पदाघात
 बिना बात ।
 क्यों न सहें ये
 मेरे दर्प का भार,
 बदले में व्यक्त करें आभार
 नारी हैं
 कुछ तो सीखें !



सावन की एक सुबह

सूरज को, कच्ची नींद से
जगाओ मत ।

दुधमुँहे बालक-सा
दिन-भर झुँझलायेगा
मचलेगा, अलसायेगा;
रो कर, चिल्ला कर
धरा सिर पर उठायेगा ।

आदत बुरी है यह,
किन्तु बालक तुम्हारा है
ओ माँ बयार !

थपकियाँ दे-देकर सुला दो,
इसे बादल उठा दो,
इस तरह रुलाओ मत !
सूरज को कच्ची नींद से
जगाओ मत !



समय : एक आलसी मजदूर

तुम्हे देखकर मेरे पास
ईर्ष्यालु समय ले ठण्डी सांस
अपनी प्रेयसि को करके याद
सदा ही लम्बे-लम्बे डग भर चलने लगता है !

और तुम्हारे हो जाने पर दूर
समय का यह आलसी मजदूर
किसी पेड़ की छाया में पड़ा
अपने गौने के स्वप्नों पर हो मुग्ध स्वयं को ठगता है ।

किन्तु यह मजदूर समय
जो चाहे सो करे, निडर मैं
क्योंकि तुम्हारा पगचिह्नित यह मार्ग
जीवन के अँधेरे में दीपस्तम्भ-सा चमकता है ।



विषाक्त परम्परा

मारते क्यों हो
 निरीह प्राणी को
 जाने दो !
 डसेगा नहीं ,
 निज गुम्फन में
 कसेगा नहीं ,
 उसको तो जाना है
 चला जायेगा
 भटके राही-सा ।

बेचारा पनिया है !
 किन्तु हो कैसा भी
 सर्प है !
 उसे मरना तो होगा ही,
 निज को हमे त्रासमुक्त
 करना तो होगा ही,
 भय विष का ही नहीं
 रूप, रंग, आकार का भी,
 अतः उसे बलि होने दो
 अपनी विषाक्त परम्परा के लिए ।



कागज़ के फूल

प्रेम तुम करो
 या न करो ,
 प्रेमभरे शब्द ही
 नित्य सुनाते रहो;
 क्योंकि दो चार क्षण
 शब्दों के जादू मे
 कितना भला है
 कुछ खो-सा जाना !

मेरे लिए मकरन्द-भरे
 फूलों के गजरे
 कभी तुम न लाना,
 दुखद है अभागों का
 कुम्हला जाना ।
 कागज़ की माला
 है ज़्यादा टिकाऊ
 वही तुम मुझे दो ।

रोज़-रोज़, बार-बार
 प्रेम और तकरार
 की नुमाइश से
 तो भला हो यह

कि क्षण दो-चार
कुछ मीठा-मीठा बोल दो ।
उन्हीं क्षणों का
करने में इन्तज़ार
मेरे जीवन के दिन
कटते जायेंगे
एक सुखद स्वप्न-से ।

मन पारस है

यह जो काँटा
 मन मे चुभा, और टूट गया
 उसे निकालो मत
 रहने दो,
 दर्द मुझे सहने दो !
 मन मेरा पारस है
 छू लेगा, लोहा भी
 स्वर्ण बन जायेगा,
 काँटा यह किसी दिन
 कल्प वृक्ष बन
 बगिया मे छायेगा,
 हरियायेगा !



एक मनःस्थिति

कभी-कभी लगता है
जैसे घर की पक्की छत, दीवारें, चौखटें
मेरी गर्म साँसों से पिघल कर
मोम-सी बह गयी है ।

केवल ये खिड़कियाँ-दरवाजे जैसे
कभी खुले नहीं ;
जकड़े ही रह गये हैं ।

चाँद-तारे सब
काले पड़े हुए
झूठे सलमे-सितारों का काम है ।

जैसे इस गुलज़ार गली में
कहीं कोई नहीं,
केवल नाम है ।

जैसे हर नया दिन
एक आलसी, बे-कहे नौकर-सा
झुँझलाता आता है
और धूल-भरे आँगन को
बे-मन से झाड़ कर
चला जाता है ।

समन्वय की बात

ओ मन !
 मुझे ओर झुकाओ मत ।
 समन्वय की बात
 ओठों पर लाओ मत !
 एक पतली-सी रेखा है
 चटखने और टूटने के बीच,
 उसे रहने दो ।
 मुझे कहने दो
 कि मैं हूँ ।
 अभी मिटी नहीं !





भारतीय ज्ञानपीठ काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

●
संस्थापक

साहू शान्तिप्रसाद जैन

संस्थापिका
श्रीमती रमा जैन

